शुभकामना

हिन्दी इस राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा है। उसका व्याप और आयाम अत्यन्त विशाल है। तदनुरूप उसके अध्ययन और अनुसन्धान की दिशाएँ भी विस्तृत होती चली जा रही हैं, यह प्रसन्नता की बात है। हमारे विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने भी इस दिशा में विविध प्रयास किये हैं। 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्' की स्थापना द्वारा विभाग अपने शोध-परक अध्ययन के क्षेत्र में गतिशील है। हिन्दी-शोध-सूचना-सम्बन्धी उसके प्रकाशन 'हिन्दी-अनुसन्धान-विवरणिका' का विद्वानों ने स्वागत किया, यह हमारे लिए उत्साहवर्द्धक हुआ। विभाग के सदस्य स्वतन्त्र रूप से भी शोध-कार्य की ओर प्रयत्नशील हैं।

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत श्री नगीनदास पारेख की गुजराती कृति 'अभिनवनो रस-विचार अने बीजा लेखो' का यह हिन्दी-अनुवाद विद्वानों के समक्ष जा रहा है। आशा है, इससे हिन्दी अध्ययन क्षेत्र तो विकसित होगा ही, हिन्दी-गुजराती के पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी उर्जस्वित होगी।

इस ग्रन्थ की उपादेयता से श्री पारेखजी और हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक—दोनों का ही श्रम सफल होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इसके प्रकाशन के अवसर पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ।

रमेश सु० महेता
उपकुलपति

सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभविद्यानगर, गुजरात
७–१२–१९७३

दो शब्द

सरदार पटेल विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्' ने महत्त्वपूर्ण एवं शोधपरक ग्रन्थों के लेखन, अनुवाद और प्रकाशन की योजना हाथ में ले रखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी योजना के अन्तर्गत पाठकों के हाथों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन् १९७१ में गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ समीक्षक और विचारक श्री नगीनदासजी पारेख को उनके ग्रन्थ 'अभिनवनो रस-विचार अने बीजा लेखो' पर साहित्य अकादमी द्वारा पाँच हजार रुपये का पुरस्कार घोषित हुआ था। निस्सन्देह श्री पारेखजी का यह कार्य उपर्युक्त सम्मान के सर्वथा योग्य है। यह मूल ग्रन्थ गुजराती में था, अतः विभागीय अनुसन्धान-परिषद् ने यह अनुभव किया कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अनूदित करके हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। हम श्री पारेखजी की उदारता के प्रति आभारी हैं कि उन्होंने अपनी कृति को अनूदित और प्रकाशित कराने की अनुमति हमें सहर्ष प्रदान की।

मूल ग्रन्थ में अभिनव के रस-विवेचन पर एक लम्बा लेख तथा कई अन्य काव्य-शास्त्रीय लेख थे। अन्त में एक लेख 'नाट्यालंकार' पर था। इस अन्तिम लेख को इस अनुवाद में छोड़ दिया गया है क्योंकि 'नाट्यालंकार' लेख का सम्बन्ध मूलतः गुजराती साहित्य और तत्सम्बन्धी समीक्षा तक ही सीमित था, हिन्दी अथवा सामान्य काव्यशास्त्र से उसका विशेष सम्बन्ध न था। स्वयं पारेखजी की भी यही इच्छा रही थी।

समस्त लेखों में सर्वाधिक महत्त्व 'अभिनवनो रस-विचार' सम्बन्धी लेख का है। अतः हमने प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद का नाम 'अभिनव का रस विवेचन' ही रखना उपयुक्त समझा है। अन्य लेख ग्रन्थ के आनुषंगिक लाभ समझने चाहिएँ।

इस ग्रन्थ के लेखों के विषय हिन्दी अध्ययन-क्षेत्र के लिए अपेक्षाकृत अधिक अधीत और अधिक परिचित हैं। लगभग सभी विषयों पर पर्याप्त लिखा-पढ़ा जा चुका है। पर, काव्यशास्त्र के अध्येता अब भी यह अनुभव करते हैं कि इस क्षेत्र में लिखने और विचार करने की आवश्यकता चुक नहीं गयी है। श्री पारेखजी का यह कार्य अध्ययन-क्षेत्र में कुछ सफाई ला सके, विचार की कुछ और दिशाएँ खोल सके अथवा मूल कृतियों के विषय में कुछ और अवगति दे सके तो श्री पारेखजी और हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् का यह प्रयास सफल है, और हमें यह विश्वास है, ये दिशाएँ इस कृति से खुलेंगी।

श्री पारेखजी के कार्य की गुजराती अध्ययन-क्षेत्र में तो उपयोगिता है ही उन्होंने अति सहज और सरल रूप में इन गम्भीर विषयों को गुजराती के स्वाभाविक मुहावरे में

प्रस्तुत कर इस क्षेत्र की एक भारी कमी को पूरा किया है। अनुवादकों ने मूल कृति की चेतना को यथासम्भव सुरक्षित रखकर हिन्दी पाठकों तक पारेखजी के योग-दान को अनामृष्ट पहुँचाने का प्रयास किया है। अनुवादक डॉ॰ सुरेशचन्द्र त्रिवेदी और डॉ॰ श्रीराम नागर हिन्दी-विभाग के वरिष्ठ व्यक्ति ही नहीं हैं, गुजराती-हिन्दी के अभ्यासी अनुवादक भी हैं। स्वयं श्री पारेखजी ने भी अनुवाद को देख कर मूल चेतना से अविकल सम्पृक्त बनाये रखने का ध्यान रखा है।

अभिनवगुप्त काव्यशास्त्रियोंके लिए एक चुनौती था और आज भी है। अपनी-अपनी क्षमता और दृष्टि के अनुरूप अध्येता उसमें अवगाहन करता है और उसकी अपनी उपलब्धि दूसरे की उपलब्धि से कहीं मिलती भी है, कहीं टकराती भी है। किसी विद्वान् का यह अन्तिम दावा नहीं हो सका है कि उसने अन्तिम रूप से अभिनव को पा लिया है। ऐसी स्थिति में अभिनव के अवगाढ़ विद्यार्थी श्री पारेखजी के प्रस्तुत अध्ययन से कहीं सहमत न हो सकें तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं स्वयं भी अनेकत्र सहमत नहीं हो सका हूँ। अध्ययन-क्षेत्र की यह स्वतन्त्रता सभी के लिए स्वागत-योग्य है। हमारा लक्ष्य इस ग्रन्थ की समीक्षा करके हिन्दी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु गुजराती के एक वरिष्ठ एवं अनुभवी अध्येता के श्रम से हिन्दी-जगत् को लाभान्वित कराने में माध्यम भर बनने का है। हमें विश्वास है, हिन्दी-जगत् श्री पारेखजी के इस महत्त्वपूर्ण योग-दान से अवश्य लाभान्वित होगा और उनके प्रति कृतज्ञता अनुभव करेगा।

प्रेमस्वरूप गुप्त
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभविद्यानगर (३८८१२०)
गुजरात

व स्मृतियों में भी कहा गया है कि—तत्त्वज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः। तत्त्वज्ञानियों को सभी आश्रमों से मुक्ति मिल जा सकती है। कहा है कि—

देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥

अर्थात् देवपूजा में लीन तत्त्वज्ञाननिष्ठ और अतिथिप्रिय एवं श्राद्ध करके द्रव्य-दान करने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त करता है।

यों गृहस्थों की भी मुक्ति होती है, फिर भी इसमें इतना अन्तर है कि परोपकाररूप फल-प्राप्ति की कामना से ही किये गये तथा परार्थ-साधना की इच्छा से आचरित धर्म कारण बोधिसत्वादि ज्ञानियों को पुनः स्वानुरूप शरीर की ही प्राप्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भी साधक कुछ काल तक जीवित रहता है; इस काल में वह जो कुछ भी कार्य करता है, वह प्रायः निष्काम-भावना से ही करता है अतः इसके कारण नवीन कर्माशय या भोगजन्य संस्कार उत्पन्न होते नहीं हैं। अतः देह का नाश होने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् भी साधक जब परोपकार की इच्छा से सकाम कर्म करता है, तब वह सकाम कर्मों से उत्पन्न होने वाले धर्म के कारण पुनर्जन्म की सामग्री एकत्र करता है। और ऐसे साधक जिन्हें बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व कहते हैं, पुनः जन्म धारण करते हैं। अर्थात् गृहस्थ और संन्यासी इन दोनों के मोक्ष में यह अन्तर है कि संन्यासियों के लिए तत्त्व-ज्ञान होने पर सकाम कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती अतः वे सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं और गृहस्थ साधक तत्त्व-ज्ञान होने के बाद भी परोपकार की भावना से सकाम कर्म किये जाता है, अतः कुछ समय के लिए उन्हें तत्त्वज्ञान के कारण मोक्ष जैसा सुख मिलता है किन्तु सकाम कर्मजनित संस्कार के कारण पुनः देह धारण करनी पड़ती है। सांख्य वगैरह में इसी को ही 'विदेह' कहते हैं, उसी का नाम 'प्रकृतिलय-दशा प्राप्त' है।

इस प्रकार अन्य रसों में भी कर्तव्य-भावना से अपना कर्तव्य करने वाले को उस कार्य के स्वभावौचित्य के कारण सुख की प्राप्ति होती है। जैसा कि वीर-रस के अङ्गभूत पिता की आज्ञा पालने के कारण राम को सुख-प्राप्ति हुई थी। वैसा ही शृंगारादि का समझिए। इसीलिए ही जीमूतवाहन में परोपकारप्रधान त्रिवर्ग की प्राप्ति को ही फलरूप में अभीष्ट होने के कारण, अर्थात् मोक्ष अभीष्ट न होने के कारण शान्त का स्थायीत्व होने पर भी प्राधान्य नहीं है। इसी आशय से नाटक के लक्षणों में यह कहा जाएगा कि 'ऋद्धि विलासादि गुणों से नाटक युक्त होना चाहिए'। (नाट्य-शास्त्र १८-११, खण्ड २, पृ० ४१२) यहाँ भी ऋद्धि और विलासप्रधान अर्थ और काममय, सर्व सहृदयों का हृदय-संवाद साधित करने वाले सुन्दर प्रयोजन-प्रधान चरित, नाटक में योजित किये जायँ, ऐसा कहा गया है। और इसी आशय से अर्थात् नाटक के लक्षणों में ही शान्त-रस में भी ऋद्धि-अंगों का समावेश हो जाने के कारण भरतमुनि ने शान्त-रस में किसी प्रकार के ऋद्धि-अंगों का प्रयोग सूचित नहीं किया है। अतः शान्त-रस में ऋद्धि-विषयक

अंगों का विनियोग उल्लेखित नहीं किया गया है अतः शान्त-रस में उसका अभाव है, ऐसा कहना गलत है।

उत्साह को शान्त-रस का अन्तरंग सहायक न मानने वाले अन्य समीक्षक ऐसा कहते हैं कि 'नागानन्द' में जीमूतवाहन ने तो "हे पुत्र, तेरी रक्षा कौन करेगा ?" ऐसा कहने वाली शरणार्थिनी वृद्धा की रक्षा की थी। इसमें उसकी कोई शक्ति प्रगट नहीं होती तथा उसमें परहिंसा भी नहीं आ जाती। ये दो वस्तुएँ वीर-रस में आनी ही चाहिए। इन्हीं का यहाँ अभाव है तो फिर उसे धर्मवीर या दयावीर कैसे कहा जा सकता है ?

इसके प्रत्युत्तर में अभिनवगुप्त कहते हैं कि आपका कथन सत्य है, परन्तु बोधिसत्त्वों के मन में जीवन में पुनः अभ्युत्थान—उन्नति प्राप्त करने की इच्छा ही नहीं होती तथा शक्ति का उपयोग करने की इच्छा भी होती नहीं है। अतः जीमूतवाहन में इन दो वस्तुओं का अभाव हो तो इसमें कुछ भी असंगत नहीं है।

इस चर्चा से यह सिद्ध होता है कि दयारूप उत्साह यहाँ प्रधान है। अन्य भाव व्यभिचारी के रूप में यथायोग्य आ जाते हैं। योग सूत्र (४-४७) में कहा है कि 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' अर्थात् समाधि के छिद्रों में अर्थात् जब समाधि छूट जाती है तब संस्कार के कारण अन्य ज्ञान भी होते रहते हैं अतः शान्त-रस में निश्चेष्टता के कारण अनुभावों का अभाव होता है ऐसा जो कहते हैं यह गलत है। जीमूतवाहन की मनःस्थिति में जो शान्त-रस दिखायी देता है वह भला उत्साहशून्य निश्चेष्ट शान्त-रस नहीं है, बल्कि उसमें दूसरों की रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देने का प्रबल उत्साह है और वह तदनुसार कार्य करता भी रहता है। बोधिसत्त्वों का शान्त-रस ऐसा होता है। परन्तु जब अन्तिम भूमिका पर पहुँच जाता है तब भावों का अभाव हो जाता है और तब इस शान्त रस का प्रयोग हो नहीं सकता। अर्थात् अभिनय नहीं हो सकता।

परन्तु वैसे तो अन्तिम अवस्था (भूमिका) में रति शोकादि भी अभिनेय नहीं रह पाते। मतलब यह कि सम्भोग-शृंगार की भी चरमसीमा-चरमपरिणति निश्चेष्टता में ही होती है। और विप्रलम्भ में तथा करुण में भी चरमपरिणति व्यापारशून्यता में ही होती है। इस दशा में इन रसों का भी अभिनय नहीं हो सकता। फिर भी उन्हें रस कहते हैं तो फिर शान्त को रस के रूप में स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है ? और शान्त-रस में ऐसे तत्त्वज्ञान के बीजभूत संस्कारसम्पन्न अन्तःकरणों का हृदयसंवाद भी साबित होता ही है। यही बात आगे (नाट्यशास्त्र, २७-५८) कही जाएगी। वहाँ कहा है कि—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिणः॥
शूरास्तु वीररौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्याने पुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥

[नाट्यशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ३१२]

यहाँ प्रतिपक्षी ऐसा प्रश्न उपस्थित करता है कि ऐसे शान्त-रस-प्रधान नाटक में वीर-रस का आस्वाद कैसे सम्भव होगा ? तो उत्तर है कि जहाँ इस शान्त-रस का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पुरुषार्थ को उपयोगी ऐसा श्रृंगार, वीर आदि अन्य कोई रस ही होता है और उन अन्य रसों का आस्वाद ही शान्त-रस में होता है। प्रहसन आदि में जहाँ हास्यादि की प्रधानता होती है, वहाँ भी बाद में प्रतीत होने वाला अन्य रस ही प्रधानतः आस्वाद्य बनता है।

इस सबसे यह सिद्ध होता है कि शान्त-रस की स्थिति है ही। इसीलिए प्राचीन पुस्तकों में 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः।' इस वाक्य के बाद 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः'। आदि शब्दों से शान्त का लक्षण दिया गया दिखायी देता है। मतलब यह कि अभिनवगुप्त को नाट्य-शास्त्र की ऐसी कतिपय प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं जिनमें विशेष रसों के निरूपण के पूर्व श्रृंगार के भी पहले शान्त-रस का निरूपण किया प्रतीत होता था।

सभी रसों का शान्तप्राय आस्वाद

विषयों के प्रति विमुखता हो जाने के कारण शान्त ही प्रधान हो जाने के कारण सभी रसों का आस्वाद शान्त जैसा ही होता है। 'तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या, तन्मुख्यतालाभात्।' मात्र उस आस्वाद में अन्य वासना अवस्थित होती है। अर्थात् जिसप्रकार सम्भोग की चरमावस्था में सभी काम व्यापारों की उपरति हो जाती है और तभी चरमास्वाद अनुभूत होता है, उसी प्रकार सभी रसों का आस्वाद शान्तप्राय ही होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें अन्य रसों की मुख्यता होने के कारण इस आस्वाद में अन्य वासनाएँ अवस्थित होती हैं। इस प्रकार वही सब रसों की प्रकृतिरूप है, ऐसा बतला कर उसी का प्रथम निरूपण किया गया है।

शान्त-रस के स्थायीभाव का अलग उल्लेख क्यों नहीं किया, यह समझाते हुए कहते हैं कि सभी में जो सामान्यरूप में स्थित हो उसकी लोक में गणना नहीं की जाती है अतः शान्त के स्थायी को अलग नहीं गिनाया गया है। परन्तु सामान्य को भी समीक्षक को तो अलग गिनना चाहिए अतः समीक्षक को मान्य ऐसी सामाजिक की आस्वादात्मक प्रतीति का विषय बनने के कारण शान्त-रस का स्थायीभाव अलग है ही।

शान्तरस का समर्थन

अब शान्त-रस का समर्थन अन्य शास्त्रों के आधार पर करते हुए कहते हैं कि इतिहास, पुराण, अभिधान-कोश, आदि में नव रस बताये गये मिलते हैं। हमारे गुरु-देव उत्पलाचार्य के 'प्रत्यभिज्ञादर्शन', में भी ऐसा ही है। वहाँ कहा है कि—

अष्टानामिह देवानां श्रृंगारादीन्प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देव देवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥

अर्थात् यहाँ, आठ देवताओं के श्रृंगारादि की परिगणना हुई, उन्हीं के बीच महादेव के शान्त-रूप की रचना की जाय।

शान्त के विभावादि

इस शान्त-रस के वैराग्य, संसारभीरुता आदि विभाव हैं। उनके वर्णन से शान्त-रस का ज्ञान होता है। मोक्षशास्त्र का विचार आदि उसके अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं। अतः स्मृति-मति, धृति उत्साह आदि से युक्त ईश्वरप्रणिधान-विषयक भक्ति और श्रद्धा भी इसी शान्त रस के अंग हैं। अतः इन दोनों को अलग रस के रूप में माना नहीं गया। इस विषय में संग्रह-कारिका इस प्रकार है :

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्त रसो नाम विज्ञेयः ॥

अर्थात् मोक्षरूप आध्यात्म की प्राप्ति के कारण तत्त्वज्ञानरूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस-रूप धर्म वाला शान्त-रस समझिए।

उसके विभाव, स्थायीभाव, अनुभावों का सम्बन्ध तीन विशेषणों से क्रमशः बताया गया है। मतलब यह कि 'मोक्षाध्यात्मनिमित्त' पद विभावों का सूचक है, 'तत्त्वज्ञानार्थ-हेतुसंयुक्त' पद स्थायीभाव का व्यंजक है और 'निःश्रेयस धर्मयुत' पद अनुभावों का व्यंजक है।

शान्त-रस ही अन्य सब रसों की प्रकृतिरूप है, इस बात का आगे की कारिका में उल्लेख हैं :—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।

अर्थात् अपने अनुरूप कारण प्राप्त होने पर शान्त-रस में से ही भाव उत्पन्न होता है और कारण के नष्ट होने पर पुनः शान्त में ही लीन हो जाता है।

'डिम' में शान्त का अनुल्लेख

इसके पश्चात् 'डिम' विषयक चर्चा उठाते हैं। भरत ने डिम में हास्य और शृंगार के सिवा छह रसों का निरूपण किया जाय ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि रस आठ ही हैं। अर्थात् भरत ने शान्त को स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में अभिनव-गुप्त कहते हैं कि डिम में हास्य और शृंगार को छोड़ कर शेष छ रसों की बात कही है, जिसका अर्थ यह है कि डिम को भरत ने दीप्त-रस-प्रधान कहा है। अर्थात् रौद्र-रस-प्रधान डिम में उसका विरोधी शान्त-रस सम्भव ही नहीं है अतः उसका अलग से निषेध करने की आवश्यकता भी नहीं रहती; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि डिम दीप्त-रस-प्रधान है। अतः दीप्त-रस का विरोधी रस उसमें आ ही कैसे सकता है? यह बात स्वतः स्पष्ट है। यदि हम यह मानें कि भरत को शान्त-रस मान्य (स्वीकार्य) नहीं है तो फिर 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' विशेषण से वे किसका व्यवच्छेद करना चाहते थे? और 'शृंगार-हास्यरहित और छह रसों वाला' ऐसा कहने के लिए क्या आवश्यकता थी?

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी ऐसा कहते हैं कि 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' इस पद के द्वारा करुण और अद्भुत-रस के प्राधान्य का व्यवच्छेद किया गया है। परन्तु अभिनवगुप्त

कहते हैं कि आपकी यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि भरतमुनि ने डिम को सात्वती व आरभटी वृत्तियुक्त बतलाया है। और करुण तथा अद्भुत रस में इन दो वृत्तियों का अभाव होता है। अतः उनका निरास (निरसन) तो 'सात्वत्यारभटीवृत्तिसंपन्नः' इस पद से ही हो गया है, किन्तु शान्त में सात्वती ही वृत्ति होती है अतः इस पद द्वारा उसी का व्यवच्छेद किया है, ऐसा सिद्ध होता है। और इस प्रकार देखने से तो डिम का लक्षण भी शान्त रस के अस्तित्त्व का ही साधक है।

अभिनवगुप्त आगे कहते हैं कि इसके अलावा 'डिम' में बलात् सेवित श्रृंगार सम्भव है क्योंकि उसके अंग के रूप में हास्य भी सम्भव है अतः इसीलिए इन दोनों का निषेध किया गया है। नाम लेकर इन दोनों का स्पष्ट निषेध करने का विशेष कारण है। ये दोनों जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है डिम में सम्भव हैं और सभी रूपकों में ये दोनों समानभाव से रहते हैं अतः डिम में भी रहते हों ऐसा लगता है, इसलिए इन दोनों का नाम लेकर निषेध किया गया है। शान्त-रस का स्थायीभाव आत्मा है, अतः उसके रंग या देवता की कल्पना करने में औचित्य नहीं है। फिर भी अन्य रसों के साथ समानता रखने के लिए उसके भी रंग और देवता की कल्पना की गयी है ऐसा समझना चाहिए। शान्त-रस की उपपत्ति तो इसके पूर्व हम बता चुके हैं ही। अतः यह रस यम, नियम, ईश्वर-प्रणिधान आदि के उपदेश में सहायभूत होने के कारण मोक्षरूपी महाफल की प्राप्ति कराने वाला है। सब रसों में प्रधान है और कथानक में उसकी व्यापकता युक्तिसंगत है अतः अधिक चर्चा निरर्थक है।

शान्त का आस्वाद

उसके तत्त्व का आस्वाद कैसा होता है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में अभिनवगुप्त कहते हैं कि आत्मा के स्वरूप को ढँक देने वाली रति, उत्साह आदि से आच्छादित आत्मा का जो स्वरूप है, वही दूर-दूर पिरोए गये गुरियों के बीच में दिखायी देने वाले सफेद व चमकते सूत्र (डोरे) के समान क्वचित्-क्वचित् क्षण-दो क्षण के लिए भासमान होने पर रत्यादि उपरञ्जकों के यथावत् रहने पर 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' वचनानुसार एक बार प्रगट हुआ होने पर भी यह आत्मा विषयोन्मुखतारूप सब दुःखों के जाल से रहित और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप में काव्य तथा नाटक प्रबन्ध आदि द्वारा एक-सा प्रतीत होता है। और एक प्रकार की अन्तर्मुख अवस्था द्वारा लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करा कर हृदय को भी वैसा अर्थात् आनन्दमय बना देता है।

रसों की संख्या

इस प्रकार ये नौ ही रस हैं। [यों रस नव ही हैं] ये पुरुषार्थों के लिए उपयोगी हैं। उनमें रंजन-शक्ति अधिक है। अतः इनका ही स्वीकार करने योग्य है। शंकुक आदि ने जो यह कहा है कि इनके अलावा भी अन्य रस सम्भव है, फिर भी ऋषियों ने नौ रस कहे हैं जो प्रसिद्ध हैं, अतः संख्या नौ तक सीमित है, सो ठीक नहीं है। यही बात भावाध्याय में भी कहीं जाएगी।

वात्सल्यादि का अस्वीकार

इसके पश्चात् वात्सल्य और लौल्य-रस का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि आर्द्रतारूप स्थायीभाववाला स्नेह नामक रस है, ऐसा जो कहा जाता है, सो ठीक नहीं है। स्नेह एक प्रकार का आकर्षण है और वह सब प्रकार की रति और उत्साह में पर्यवसित हो जाता है। जैसे कि बच्चे का माता-पिता के प्रति, युवकों का मित्रों के प्रति, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति, स्नेहोदय रति में ही समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वृद्धों का पुत्र-पुत्री के प्रति स्नेह का भी समझिए। और अर्ध स्थायीभाववाले लौल्य-रस के अस्वीकार में भी यही पद्धति मान लेनी चाहिए; क्योंकि उसका समावेश हास में या रति में या अन्य किसी में हो ही जाता है। भक्ति के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

———

टिप्पणी १

विभावादि की अलौकिकता

सामान्य जीवन में रति, शोक, हर्ष आदि स्थायीभाव प्रकट होते हैं, उनमें तीन तत्त्व होते हैं : कारण, कार्य और सहचर। कारण अर्थात् जिसके कारण वह भाव प्रगट हुआ हो ऐसी घटना, वस्तु या व्यक्ति। कार्य अर्थात् इस भाव के जगने पर होने वाले शारीरिक विकार या चेष्टाएँ और सहचर अर्थात् मुख्य भाव के साथ-साथ अन्य जो भी गौण, क्षणिक भाव चित्त में जगते हैं, वे। ये ही कारण, कार्य तथा सहचर जब नाटक अथवा काव्य में प्रस्तुत होते हैं तब वे अपने अनुरूप तद्-तद् भाव को जगाते नहीं है किन्तु उससे भिन्न ऐसी एक संवित् की अभिव्यक्ति करते हैं, जिसे रस कहते हैं। यह संवित् इन कार्य, कारण और सहचर से अनुरंजित होती है। अतः यदि ये सच्चे होते तो वे जिस भाव को जगाते उसकी वासना से अनुरञ्जित होते हैं। परन्तु जब ये कार्य, कारण और सहचर प्रत्यक्ष जीवन का अंग नहीं होते तथा काव्य-नाटकादि का अंश होते हैं, तब वे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी अथवा संचारीभाव के नाम से पहचाने जाते हैं। इनका कार्य विभावन, अनुभावन तथा संचारण अथवा समुपरञ्जन होता है। विभाव भावक में अपने अनुरूप स्थायीभाव की वासना को जागरित करते हैं और उस वासना से रस अनुरञ्जित या चित्रित हुआ होता है। विभावन आदि की व्याख्या विश्वनाथ ने इस प्रकार की है : "विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरण योग्यतानयनम् अनुभावनमेवंभूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। सञ्चारणं तथा भूतस्यैतस्य सम्यक् चारणम्।"

अर्थात् रत्यादि को विशेष आस्वादन-क्षम बनाना ही विभावन, ऐसे रत्यादि का

साथ ही साथ रसादिरूप में भावन अर्थात् आस्वादन कराना ही अनुभावन कहलाता है। ऐसे रस को घन या परिपुष्ट करना संचारण है। वस्तुतः तो रसास्वाद एक अखण्ड अनुभूति ही है। उसमें ऐसे खण्ड सम्भवित ही नहीं हैं। फिर भी विभावादि के अलग-अलग कार्य समझाने के लिए ऐसे विभाग व कार्य कल्पित किये गये हैं। इस बात को हम अधिक विस्तार से देखें—

हमने देखा कि लौकिक जीवन में भाव की उत्पत्ति के जो कारण, कार्य और सहचर होते हैं उन्हीं का वर्णन काव्य में किया जाता है और नाटक में भी वे ही प्रस्तुत किये जाते हैं, किन्तु काव्य-नाटकादि में इनका प्रयोजन व्यवहार-जीवन के प्रयोजनों से भिन्न होता है। इसलिए इन्हें विभावादि के भिन्न नामों से पहचाना जाता है। कोई व्यक्ति शत्रु को देख कर क्रोधित हो तो उसके कपाल पर वक्र रेखाएँ होंगी, आँखें लाल होंगी, चेहरा फूल जाएगा, शरीर कम्पित होने लगेगा। यहाँ क्रोधित व्यक्ति की दृष्टि से देखें तो दुश्मन का दर्शन ही उसके क्रोध का कारण है। कपाल पर वक्र रेखाएँ उभरना, आँखें लाल होना, आदि क्रोध के परिणाम अर्थात् कार्य हैं। अब मान लीजिए कि हम उसको दूर से देखते हैं तो हम उसकी भौंहें चढ़ी देखते हैं, आँखें भी लाल हुई देखते हैं। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि यह क्रोधित हुआ है। हमारे मन में यह जिज्ञासा या कुतूहल जगता है कि वह किस पर और क्यों क्रोधित हुआ है? तभी वह दुश्मन भी दिखायी देगा और हम निश्चित अनुमान कर सकेंगे कि यह व्यक्ति अपने उस दुश्मन पर क्रोधित हुआ है। इस उदाहरण में हमारी दृष्टि से देखने पर, उस व्यक्ति के शरीर में हुए विकार और उसके शत्रु का दर्शन दोनों अनुमान के लिंग बनते हैं। इसके आधार पर हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि यह व्यक्ति उस शत्रु पर क्रोधित हुआ है। इस प्रकार उस व्यक्ति के लिए जो क्रोध के कारण व कार्य थे, वे हमारे लिए अनुमान के लिंग या साधन बनते हैं। इन दोनों प्रसंगों पर इन कारण-कार्यों का स्वरूप लौकिक ही रहता है।

परन्तु यही वस्तु जब काव्य-नाटक में प्रस्तुत होती है तब उसका प्रयोजन भिन्न होता है। वहाँ पात्र की चित्तवृत्ति की निष्पत्ति प्रयोजन नहीं होती अतः उन वस्तुओं में कारण-कार्यभाव नहीं होता तथा पात्र की चित्तवृत्ति का हमें बोधमात्र कराना भी उसका प्रयोजन नहीं होता। अतः ये वस्तुएँ हमारे लिए अनुमान के लिंग या साधन रूप भी नहीं होतीं। काव्य में इसका प्रयोजन रसनिष्पत्ति ही होता है। इस प्रयोजन को ये वस्तुएँ कैसे सिद्ध कर सकती हैं? व्यवहार में जो वस्तु चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारणरूप होती है, वही काव्य अथवा नाटक में स्थायीभाव का निश्चित बोध कराती है। व्यवहार में उसका कार्य निष्पत्ति है, जब कि काव्य में 'विभावन' है और इसीलिए उसे 'विभाव' कहते हैं।

भरत ने कहा है कि 'विभावो विज्ञानार्थः'। वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय का इससे विशेष बोध होता है इसलिए उसे विभाव कहते हैं। अर्थात् उसके शत्रु को देख कर उसके क्रोध के अभिनय को हम विशेषरूप से समझ सके। अभिनवगुप्त

ने कहा है कि अभिनय तो अनेक हेतुओं से किये जाते हैं जैसे कि अश्रु का अभिनय अनेक बातें सूचित कर सकता है—गरमी, धुआँ, रोग, शोक आदि। परन्तु जब विभाव का पता चले तब हम इस अभिनय का सही अर्थ क्या है, इस विषय में एकदम निर्णय कर सकते हैं—"अभिनयानामनेकहेतुजत्वम्। तद्यथा हर्षादिभ्यो हासः। घर्मधूम रोगादिभ्यो बाष्पः। तद् बाष्पात्किं प्रतीयताम्। विभावात्तु झटित्येव निश्चयः।" पृ० ३४७। व्यवहार में लाल आँखें आदि स्थायीभाव के परिणाम-कार्य रूप होती हैं। अथवा उसके अनुमान के लिंगरूप होती हैं परन्तु काव्य-नाटकादि में उनका काम रसिकों को चित्तवृत्ति का अनुभावन कराना है। अर्थात् चित्तवृत्ति में तन्मय बनाना है। अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है कि 'तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव अनुभावनम्।' पृ० १५६। यहाँ 'लोचन' पर 'बालप्रिया' टीका से यह अर्थ समझ में आता है कि 'विभावों के अनुरूप चित्तवृत्ति की सजातीय ऐसी भावक की अपनी चित्तवृत्ति का उद्‌बोधन होता है और उसमें भावक तन्मय बनता है।' 'तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीय चित्तवृत्तेरुद्‌बोधनेनानुभावनम्' (पृ० १५६) इसलिए काव्य या नाटक में यह अनुभाव कहलाता है। भरत ने भी कहा है कि 'अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति' (पृ० ३४१) अर्थात् वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय को अनुभव-गोचर बनाता है अतः उसे अनुभाव कहते हैं। व्यवहार में लज्जा, अमर्ष आदि सहचर-भावों के आधार पर हम दूसरों की स्थायी चित्तवृत्ति का अनुमान कर सकते हैं। अर्थात् हमें स्थायी चित्तवृत्ति का केवल बोध होता है, परन्तु काव्य में वही वस्तुएँ स्थायी का समुपरञ्जन करती हैं। अर्थात् स्थायी को आस्वाद्य बना देती हैं। इसलिए व्यवहार में वे सहचर या सहकारी कहलाती हैं, किन्तु वे ही काव्य-नाटक में व्यभिचारी कहलाती हैं। व्यवहार में कारण-कार्यादि के द्वारा हमें दूसरों की चित्तवृत्ति का तटस्थ बोध होता है, किन्तु काव्य-नाटकादि में विभावादि के कारण हमारा उसमें अनुप्रवेश होता है, और वह अनुभवन निर्विघ्न तथा निरपेक्ष होने के कारण चर्वणा या रसनारूप होता है। इस प्रकार व्यवहार के कारण, कार्य और सहचारी काव्य-नाटक में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के रूप में आते हैं। और वहाँ वे क्रमशः विभावन, अनुभावन और समुपरञ्जन का कार्य करते हैं। कारण-कार्यादि व्यक्तिसम्बद्ध होते हैं जब कि विभावादि साधारणीभूत होते हैं। इन सब कारणों से इन्हें अलौकिक कहा जाता है।

टिप्पणी २

काव्य का शब्द

काव्य का शब्द व्यवहार के शब्द से भिन्न होता है, यह समझाते हुए अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में कहा है :

रसचर्वणा काव्यात्मक शब्द को निचोड़ने से ही होती हो ऐसा दिखायी देता है। हम देखते हैं कि सहृदय उसी (एक ही) काव्य को पुनः-पुनः पढ़ते हैं और आस्वादित करते हैं। अतः 'कार्य पूरा हो जाने पर उपाय के रूप में स्वीकृत वस्तुओं का त्याग कर देनें'

का जो व्यवहार जगत् में प्रचलन है, वह काव्य को लागू नहीं होता क्योंकि काव्य में तो शब्द अर्थ की प्रतीति करा दे उसके पश्चात् भी उसकी उपयोगिता बनी रहती है। ध्वनन-व्यापार में उसका उपयोग होता है। इसीलिए मुख्यार्थ से ध्वन्यर्थ में संक्रमित होते समय क्रम लक्षित नहीं हो पाता है। (यहाँ कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि काव्य में शब्द अर्थ का अर्थात् विभावादि का बोध कराता है, इतने मात्र से उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो पाती। उसके पश्चात् भी वह ध्वनन-व्यापार में उपयोगी हो जाता है। अभिधा से विभावादि का बोध होते ही शब्द की व्यंजना शक्ति की सहायता से रसादि व्यंग्य की प्रतीति अर्थात् चर्वणा, आस्वाद प्रगटित होता है। विभावादि का रस में इतना शीघ्र संक्रमण होता है कि विभावादि का बोध और रसास्वाद इन दोनों के बीच कोई भी क्रम लक्षित नहीं हो पाता। और इसीलिए रसादि ध्वनि को असंलक्ष्य क्रम ध्वनि कहते हैं। ऐसा होने का कारण यह है कि शब्द की अभिधाशक्ति से विभावादि का बोध होता है, उसमें तो संकेतादि लौकिक उपायों की आवश्यकता होती है, परन्तु जब वही शब्द व्यंजना द्वारा रसादि ध्वनि की प्रतीति कराता है तब संकेतादि लौकिक उपायों की आवश्यकता होती ही नहीं है।)

कुछ लोग जो ऐसा कहते हैं कि तो फिर वाक्य-भेद होगा, अतः एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ होंगे—वह केवल अज्ञानवश ही कहते हैं। (यह आपत्ति शास्त्र-वाक्यों को लागू होती है अतः उसका उत्तर भी उसी रीति से देते हैं।) शास्त्र-वाक्य एक बार उच्चरित हो गया और संकेत-बल से उसका अर्थ समझ में आ गया, उसके पश्चात् वह अन्य किसी अर्थ का बोध कैसे करा सकता है ? कारण कि श्रोता को एक ही साथ परस्पर-विरोधी अनेक संकेतों की स्मृति रहना संभव नहीं है। और यदि संकेत परस्पर विरोधी न हों तो प्रश्न ही नहीं उठता—एक ही अर्थ होता है। यदि ऐसा कहो कि ये भिन्न-भिन्न अर्थ एक के बाद एक समझ में आते हैं तो हमारा उत्तर यह है कि शब्द एक अर्थ का बोध करा कर विलीन हो चुकने पर दूसरे अर्थ का बोध कराने के लिए समर्थ रहते ही नहीं हैं। और वह वाक्य पुनः उच्चरित किया जाय तो भी संकेत, प्रकरण आदि वे ही होने के कारण अर्थ भी वही रहता है। यदि कोई ऐसा कहे कि संकेत और प्रकरण को उपेक्षित कर दूसरा अर्थ नहीं हो ऐसा नियम नहीं है, तो उसका उत्तर यह है कि फिर तो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रहेगा ही नहीं तथा धर्मकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट दोष आ घुसेगा—'स्वर्ग पाने की इच्छा वाले व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए'—इस श्रुति-वाक्य का अर्थ 'कुत्ते का मांस खाना चाहिए' ऐसा नहीं है—ऐसा कहने के लिए हमारे पास क्या प्रमाण होगा ? अर्थात् इस वाक्य में से ऐसा अर्थ भी निकल सकता है, तो फिर अर्थों का कोई अन्त ही नहीं रहेगा। परिणामतः अनिश्चितता फैलेगी। इस प्रकार एक वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं, ऐसा स्वीकार करना सदोष है।

काव्यास्वाद में तो इससे भिन्न ही होता है। उसमें तो विभावादि की प्रतीति होते ही वह चर्वणा का विषय बनता है, अतः संकेत वगैरह लौकिक उपायों की आवश्यकता

रहती ही नहीं है। काव्य की प्रतीति शास्त्र की प्रतीति के सदृश नहीं होती कि 'मुझसे यह करने को कहा गया है'; 'मुझे यह करना है'; 'मैंने अपना कार्य पूरा किया है'। इस प्रतीति में तो बाद में कुछ करने का दायित्व होता है (उत्तर कर्तव्यता) अतः वह लौकिक बन जाती है। जब कि काव्यास्वाद के समय तो विभावादि की चर्वणा जैसे जादू से उत्पन्न फूल की तरह उत्पन्न होती है। वह केवल उस समय तक के लिए ही होती है। भूत या भविष्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः वह चर्वणा अथवा रसास्वाद लौकिक आस्वाद से तथा योगी के विषय से भिन्न ही वस्तु है (पृ० १५८-१६०)।

"काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अत एवालक्ष्यक्रमता। यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्यव्यापारयोगः। पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ खादेच्छ्वमांसमित्येषनार्थ इत्यत्र का प्रमेति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीतिलौकिकास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः।"—पृ० १५८-१६०

व्यवहार की वाणी और काव्य की वाणी का भेद स्पष्ट करते हुए 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि व्यवहार की वाणी का हेतु सामने वाले व्यक्ति को किसी न किसी क्रिया में प्रवृत्त करना होता है, जब कि काव्य की वाणी का हेतु कवि द्वारा विभावादि के माध्यम से व्यक्त किये गये अभिप्राय (मन्तव्य) में ही अर्थात् भाव में ही (भावः कवेरभिप्रायः) भावक के चित्त को विश्रान्त करना होता है। व्यवहार की वाणी क्रियापर्यवसायी होती है और इसीलिए वह अभिप्राय (अभिमत)-निष्ठ होती है, न कि अभिप्रेत वस्तुनिष्ठ। अर्थात् रसास्वाद का पर्यवसान अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति में या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्य में होता नहीं है किन्तु केवल प्रतीति-विश्रान्ति में ही होता है। और यह प्रतीति-विश्रान्ति केवल अभिमतनिष्ठ होती है, अभिप्रेत वस्तुनिष्ठ नहीं होती है—

"काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनीप्रतीतिरभ्यर्थ्यते अपितु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा च अभिप्रायनिष्ठैव, न अभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना।" —पृ० ४४२

टिप्पणी ३

विततसाधारण्य

इसका अर्थ यह हुआ कि रसानुभूति के समय सामाजिकों का व्यावहारिक व्यक्तित्व-जो प्रत्येक का अलग-अलग होता है, वह क्षण भर के लिए लुप्त होता है; और उसके स्थान पर एक ही सामाजिक चिति उत्पन्न होती है, जो साधारणीभूत और स्थल-कालादि के निर्णय की सीमाओं से मुक्त होती है। यह नई चिति अथवा संवित्ति ही रस है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि किसी एक दृश्य का आनन्द प्रेक्षकों की संख्या अधिक होने पर बढ़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब प्रेक्षक को पता चलता है कि इस दृश्य को दूसरे प्रेक्षक भी देख रहे हैं तो उसका आनन्द बढ़ता है। अभिनव-गुप्त ने 'तन्त्रालोक' में कहा है कि—

'तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्॥
तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टाः प्रत्येकशो यदि।
कः सम्भूय गुणस्तेषां प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम्॥
यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्मसन्दर्भगर्भितम्।
तद्वस्तु शुष्कात् प्राग् रूपादन्यद्युक्तमिदं तदा॥'

अर्थात्, जो सब सामाजिक एकत्र होकर नृत्य-गीत आदि का आनन्द मनाते हैं, उन्हें वह वस्तुतः सुधा (अमृत) के सागर के समान प्रतीत होता है। (जयरथ इसके सम्बन्ध में कहते हैं: कोई भी देख सके ऐसी स्पष्ट यह बात है कि जो दृश्य सभी व्यक्ति मिल कर एक साथ देखते हों, वह व्यक्तिशः देखने वाले दृश्य की अपेक्षा अधिक आनन्द देता है।) अतः जो लोग मल्ल नटादि के खेलों का वास्तविक स्वरूप समझाते हैं, वे कहते हैं कि इन सबमें प्रमाताओं का तादात्म्य सिद्ध होता है और इनसे पूर्ण रसा-स्वाद का अनुभव होता है। (जयरथ कहते हैं: पूर्णरूपेति इयदेव हि पूर्णं रूपं यद् विगलितवेद्यान्तरतया तत्रैवानन्याकांक्षत्वेन परामर्षणं नाम—पूर्ण अर्थात् जिसमें ज्ञान के सभी विषयों का बोध विगलित हो चुका हो, और अन्य कोई भी आकांक्षा भी न हो ऐसा परामर्श) यदि वे रंगमंच पर जो कुछ देखते हैं, उतने से ही (अर्थात् अन्य लोग भी यह दृश्य देखते हैं—ऐसे ज्ञान से हीन) व्यक्तिशः प्रेक्षकों को सन्तोष होता हो तो सभी सामाजिक एकत्र होने पर जो भिन्न प्रकार की ही संवित्ति प्रगट होती है, उसका स्पष्टीकरण क्या है? तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि सामाजिकों का तादात्म्य साधित होता है? जब सामाजिक को यह पता होता है कि अन्य सब लोग भी यह दृश्य देख रहे हैं तब वह दृश्य पूर्व की शुष्क स्थिति से भिन्न ही बन

जाता है, कोई भी यह देख सकता है। (जयरथ कहते हैं : तब दृश्य नवीन रूप ही धारण कर लेता है, जिसके कारण चमत्कार अनुभव किया जाता है।)

व्यक्तित्व का ऐसा लोप और संवित्ति का प्रकर्ष धार्मिक विधियों के समय भी अनुभूत होता है, ऐसा अभिनवगुप्त कहते हैं—

संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद्या संकुचेत्तु सा ।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा ॥
उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः ॥
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः ॥
अत एव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि ।
यः सर्वतन्मयी भावे ह्लादो न त्वेककस्य सः ॥
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्येकं सा तथैकताम् ।
नृत्तादिविषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ॥
ईर्ष्यासूयादिसंकोचकारणाभावतोऽत्र सा ।
विकस्वरा निष्प्रतिघ संविदानन्दयोगिनी ॥
अतन्मये तु कस्मिंश्चित्तत्रस्थे प्रतिहन्यते ।
स्थपुटस्पर्शवत्संविद्विजातीयतया स्थिते ॥
अतश्चक्रार्चनाद्येषु विजातीयमतन्मयम् ।
नैव प्रवेशयेत्संवित्संकोचननिबन्धनम् ॥

अर्थात्, सर्वात्मिका संवित् देह-भेद के कारण संकोच प्राप्त करती है, परन्तु उत्सव (मेले) में पारस्परिक प्रतिबिम्बित होने से वह विकस्वर बनती है। अपनी संवित् का उछलता रश्मि-ओघ अन्य संवितों में प्रतिबिम्बित होता है और अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्बित की भाँति अधिक दीप्त बनकर स्वतः सर्वव्यापी बन जाता है। इससे नृत्त-गीतादि में अनेक व्यक्ति एकत्र होने पर सबकी तन्मयता साधित होने पर जो आनन्दानुभूति होती है, उसे एक-एक सामाजिक अलग-अलग अनुभव नहीं कर सकता है। व्यक्तिगत संवित् भी आनन्द-निर्भर ही होती है। वह भी नृत्त-गीत में ऐसी परिस्थिति में एकत्व पाते ही परिपूर्ण आनन्दमय बन जाती है। उस परिस्थिति में ईर्ष्या, असूया आदि संकोचक कारणों के अभाव में वह विकस्वर, निर्विघ्न और आनन्दमय बन जाती है। परन्तु यदि प्रेक्षकों में से कोई एक तन्मय होता नहीं है और सबसे अलग प्रकार का बन कर बैठा रहता है तो खुरदरे स्पर्श के सदृश संवित् में विक्षेप होता है। इसलिए चक्र-पूजादि में अन्यों से अलग रहने वाले अतन्मय व्यक्ति को प्रवेश करने न दिया जाय; क्योंकि इससे संवित् का संकोच होता है।

जयरथ कहते हैं कि यह सब संविन्मय है और संवित् तो एक ही है। भेद तो माया का खेल है। रसानुभूति में जब सभी सामाजिक विगलित वेद्यान्तर होकर एक ही वस्तु में तन्मय हो जाते हैं तब यह भेद लुप्त हो जाता है और वितत संवित्ति प्रगट होती है।

टिप्पणी ४

चमत्कार

'चमत्कार' अर्थात् रसानुभूति, आस्वाद। योगवासिष्ठ से लेकर अग्निपुराण और अभिनवगुप्त से लेकर पं० जगन्नाथ तक के भारतीय धर्म-विचार तथा रस-विचार में यह शब्द प्रयुक्त होता आया है। चमत्+कार दोनों मिल कर यह शब्द बना है। चमत् का अर्थ होता है—विस्मय अथवा आश्चर्य का उद्गार, इतना ही सम्भव है और 'कार' का अर्थ है, ऐसा उद्गार करने या चित्तवृत्ति अनुभव करने की क्रिया। हमारे चित्त में एकाएक प्रगट होती किसी वस्तु से होने वाले विस्मय का भाव 'चमत्कार' शब्द में सदैव निहित है। महिम भट्ट के 'व्यक्ति-विवेक' पर अपनी टीका में रुय्यक ने (पृ० ५३ पर) कहा है कि "आलेख्यलेख्यादौ सन्तमसावस्थिते प्रदीपादिना प्रकाशिते झटिति अद्भुतार्थप्रकाशनाच्चमत्कारो जायते तद्वद्रसादौ।"

चमत्कार की पारम्परीण व्युत्पत्ति है:—'चम्' अर्थात् खाना, स्वाद लेना, उसके आधार पर भोग करना 'भुज्' भी। इस व्युत्पत्ति के अनुसार चमत् 'चम्' धातु का वर्तमान कृदन्त है, चमत् का अर्थ है, किसी वस्तु के आस्वादन लेने की स्थिति, वही चमत्वम्। अभिनवगुप्त इन दोनों ही व्युत्पत्तियों को स्वीकार करते हैं। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' के तृतीय खण्ड में पृ० २५१ पर वे कहते हैं :—

"चमत्कारो हि इति स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानतारूपं चमत्वम्। तदेव करोति संरम्भे विमर्शति नान्यत्रानुधावति। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदित-परामर्शमयशब्दना व्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्त्योदयनिय-मात्मकविघ्नविरहित एवास्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र।"

अर्थात् 'चमत्कार' के मानी हैं अपनी आत्मा में अन्य निरपेक्ष विश्रान्ति अर्थात् 'चमत्' का अर्थ किसी वस्तु के आस्वादन की स्थिति। उसका कर्ता केवल वही करता होता है। उसी का एकाग्रता से (!) विचार करना होता है। अन्य किसी वस्तु के पीछे दौड़ता नहीं है। 'चमत्' क्रिया-विशेष का संकेत करता है। समस्त शब्द का अर्थ हुआ 'निर्विघ्न आस्वाद'। यह भी कहा जा सकता है कि 'चमत्' आन्तर स्पन्दनों-आन्दोलनों से जाग्रत आनन्द से उत्पन्न शब्द का अनुकरण या उद्गार है। काव्य-नाट्यादि में रसानुभूति अन्य चित्तवृत्तियों के अभाव में निर्विघ्न होती है, और उन्हें भी चमत्कार कहा जाता है। इन सबकी चर्चा अन्यत्र की गयी है। इस प्रकार चमत्कार निर्विघ्न तथा व्यावहारिक प्रयोजनरहित संवित्ति है। उसमें व्यक्तित्व के सभी विशिष्ट तत्त्वों का लोप हो गया होता है। अतः 'चमत्कार' का अर्थ अहं का विकास होता है। विश्वनाथ 'साहित्यदर्पण' के तीसरे प्रकरण में कहते हैं: 'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।' चमत्कार चित्त के विस्ताररूप विस्मय का दूसरा पर्याय है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'चमत्कार' का उदार अर्थ ग्रहण करें तो सब प्रकार की संवित्तियाँ संवित्ति का प्राण, संवित् को तथा आत्मा को जड़ से अलग करने वाले तत्त्व ऐसा

अर्थ होता है। 'परात्रिंशिकाविवरण' में पृ० ४९ पर अभिनवगुप्त कहते हैं : "सर्वतो हि अचमत्कारे जडतैव अधिकचमत्कारावेश एव वीर्यक्षोभात्मा सहृदयता उच्यते यस्यैव एतद्भोगासंगाभ्यासनिवेशतानन्तब्रह्मकवीर्यबृंहितं हृदयं तस्यैव चातिशयचमत्कारिता।" अर्थात् चमत्कार का सम्पूर्ण अभाव तो जड़ता ही है। सहृदयता का अर्थ है अतिशय चमत्कार में मग्नता। जिसका हृदय उसके भोग के अभ्यास में निरन्तर रत अनन्त वीर्य से पुष्ट होता है, वही चमत्कार के अतिशय का अनुभव कर सकता है।

जब-जब विभावादि की प्रतीति होती है, तब-तब चमत्कार पुनः अनुभव किया जाता है। यहाँ विष्णु को चमत्कार अनुभव करते वर्णित किया गया है यह इस चमत्कार की—रसानुभव की विशिष्टता का उदाहरण है।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी' में भी अभिनवगुप्त ने चमत्कारिता का लक्षण इस प्रकार दिया है :

'चमत्कारिता हि भुञ्जानरूपा स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा' अर्थात् चमत्कारिता यह किसी वस्तु के आस्वाद लेने की स्थिति है और अपने में आत्मविश्रान्ति ही उसका लक्षण है। (३-२५२)

टिप्पणी ५

आनन्द

शैवमतानुसार संवित् अथवा 'अहं' का सारसत्त्व आनन्द है। आनन्द के अभाव का तथा दुःख का कारण, आत्मा से भिन्न किसी वस्तु की आवश्यकता या न्यूनता का बोध या इच्छा है। ऐसी किसी इच्छा का अभाव, केवल आत्मा में विश्रान्ति ही सुख या आनन्द है। 'अहं' में सब कुछ समाविष्ट हो जाता है, जो कुछ है वह सब उसके असीम स्वातन्त्र्य से उद्भूत है। उसमें किसी प्रकार की शून्यता या अभाव को स्थान ही नहीं है और उसे अपने से भिन्न तथा किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती है। कामानुभव का अर्थ है, अपनी संवित् का आस्वाद या चर्वणा अर्थात् अपने सारसत्त्व रूप आनन्द की चर्वणा। इस अर्थ में रस एक ही है। यह चर्वणा रत्यादि चित्तवृत्तियों की वासनाओं से अनुरञ्जित अथवा दूषित होती है। ये वासनाएँ विभावादि से अर्थात् काव्य के शब्दों से जाग्रत हुई होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर विभावादि के भेद से भिन्न-भिन्न रसों का अनुभव होता है। "अस्मन्मते तु संवेदनमेव एकघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका। केवलं तस्यैव चित्रिताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः।" (पृ०२९२)

हम तो ऐसा मानते हैं कि आनन्दघन संवेदन ही आस्वादित होता है। फिर उसमें दुःख की आशंका हो ही कैसे सकती है? रति-शोक आदि वासनाओं का व्यापार तो केवल उसको (संवेदन को) चित्रित करता है और अभिनयादि व्यापार उस वासना को जगाता है।

इस आनन्द का स्वरूप 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी' में खण्ड २, पृ० १७७ पर अंकित है जो नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

'स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इति उच्यते, तथा देहादिसंकोचकलुषापरिपूर्णप्रत्यगात्माहम्भावनिष्ठत्वेन शरीरस्य रिक्ततया क्षुधातुरस्य व्यतिरिक्तान्नाभिलाषविवशीकृतमतेरात्मपरामर्शोऽयमेकघनवृत्त्या यतो न सम्भवति, ततोऽयमनानन्द इव आस्ते। सति आत्मपरामर्शमये स्वानन्दे यदा तु अन्न-परिपूर्णजठरता अस्य, तदा तद्रिक्तोद्रेकरूपातावदपूर्णता विनष्टा। संस्काररूपतया तु तदानीं यदभिलषणीयं कान्तालिङ्गनादि परामर्शनीयं स्थितं यदाह गुरुः पतञ्जलिः 'नहि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इति अन्यासु विरक्तः' इत्यादि तद्योगादपूर्णोऽयमानन्द इति परमानन्दोऽयं न भवति सांसारिकश्च सर्वोऽस्यानन्दो 'लाभे भाविवियोगभीरु...' इति 'विषयो विषयान्तरार्थितां जनयन् वा जनयेत् कथं सुखम्।' इति च न्यायेन व्यतिरिक्ता-कांक्षाविच्छेदमयतां सर्वात्मना न स्वीकुरुते इति ततोऽपि अपूर्ण एव, यस्तु आनन्दतांश-स्तत्र सर्वात्मपरामर्शरूपतैव प्रयोजिकेति। तत एव उक्तम्—

त्रैलोक्येऽप्यत्र यो यावानानन्दः कश्चिदीक्ष्यते।
स बिन्दुर्यस्य तं वन्दे देवमानन्दसागरम्॥—स्तवनचिन्तामणि-६१

इति भट्टनारायणेन। तथा च मधुरादौ रसे औदरिकाभ्यवहारवैलक्षण्येन प्रवृत्त इदमि-त्थमिति प्रमातरि विश्रमयन् प्रमातृभागमेव प्रधानतया विमृशन् भुञ्जान इति उच्यते। यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिसम्भाव्यमानविघ्नान्तर-निरासात् वैषयिकानन्दविलक्षणश्रृंगारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसनाचर्वणानिर्वृत्तिः प्रतीतिः प्रमातृविश्रान्तिरेव तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्य अपि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृ-दयता उच्यते इति निर्विघ्नाः स्वादरूपाश्च रसनातद्गोचरीकार्याश्चित्तवृत्तयो रसा नव इत्ययमर्थोऽभिनवभारत्यां नाट्यवेदविवृतौ वितत्य व्युत्पादितोऽस्माभिरिति। तत्कुतूहली तामेव अवलोकयेत्। इह तु प्रकृतविघ्नकारित्वात् न विततः। तस्मादनुपचरितस्य संवेदन रूपतानान्तरीयत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकघनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृत्तिश्चमत्कार उच्यते। तस्मात् युक्तमाह 'चमत्कृतेरभावात्' मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम्। ततोऽपि काव्यनाट्यादौ तद् व्यवधानशून्यता तद् व्यवधानसंस्कार-वेधस्तु। तत्रापि तु तथोदितव्यवधानांशतिरस्क्रिया सावधानहृदया लभन्त एव परमा-नन्दम्। यथोक्तम्—

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दव्यवस्थिते।'—विज्ञानभैरव, ७२

इत्यादि —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, खण्ड २, पृ० १७७-१७९

अपने स्वरूप का अर्थात् अपनी आत्मा के परामर्श वाले अपने स्वभाव का परिपूर्ण प्रकाशन आनन्द कहाता है। उदाहरणतः जो व्यक्ति भूखा होता है उसे अपने शरीर में खालीपना महसूस होता है। देहादि के संकोच के कलुष के कारण अपरिपूर्ण प्रत्यगात्मा

के बोध वाला उसका अहं भाव अपने से भिन्न ऐसे अन्न के अभिलाष से विवश हो चुका होता है। उससे उसमें आत्मा का परामर्श एकघनवृत्ति से होता नहीं है। अतः ऐसा पुरुष स्वयं आत्मपरामर्शरूप आनन्द से सम्पन्न होने पर भी मानो आनन्दमय हो, इस प्रकार बैठा रहता है। परन्तु जब उस व्यक्ति का पेट अन्न से भरा होता है, तब पेट खाली होने की अपूर्णता नष्ट होती है। उस समय भी कान्ता का आलिंगन करने आदि की अभिलाषारूप परामर्श की वस्तु वासनारूप में स्थित ही होती है। गुरु पतंजलि ने कहा है कि—"चैत्र एक स्त्री में रक्त है, इसका मतलब यह नहीं कि अन्य स्त्रियों में वह विरक्त है।" (योगसूत्र, व्यास-भाष्य २, ४) इसीलिए अर्थात् उसमें अन्य अभिलाषाएँ होती हैं, इसलिए ही, उसका आनन्द अपूर्ण होता है और वह परमानन्द बन सकता नहीं है। कुछ प्राप्त करने पर भविष्य में उसके नष्ट होने या चले जाने का भय रहता है। इसलिए एक विषय अन्य विषय की इच्छा को जन्म देने वाला होने से वह सुख कैसे दे सकता है?—इसी न्याय से अपने से भिन्न किसी वस्तु के लिए आकांक्षा का विच्छेद वह सर्वात्मना स्वीकार कर नहीं सकता है, अतः वह अपूर्ण ही रहता है। उसमें आनन्द का जो अंश होता है, उसके मूल में अपनी आत्मा का परामर्श ही अवस्थित है। इसीलिए भट्ट नारायण ने कहा है कि "त्रैलोक्य में जहाँ कहीं जितना आनन्द दिखायी देता है, वह जिसके बिन्दु सदृश है, ऐसे आनन्द-सागर परमात्मा की मैं वन्दना करता हूँ।" (स्तवन-चिन्तामणि, पृ० ६१) उदाहरणतः जो व्यक्ति मधुरादि रस का आस्वाद करता है, उसकी प्रतीति पेटू की तरह आहार करने वाले व्यक्ति से भिन्न होती है। उसे तो केवल 'यह ऐसा है' उतनी ही प्रतीति होती है। अतः उसे तो प्रधानरूप से प्रमाता अंश का ही परामर्श होता है और इसलिए उसे 'भुञ्जान'—आस्वाद लेने वाला कहते हैं। इससे भिन्न और बाह्य बाधारहित एक आनन्द काव्य-नाट्यादि में रत्यादि का आस्वाद करने वाले व्यक्ति को अनुभूत होता है। उसमें अर्जन आदि विघ्न न होने से वह व्यवहार-जीवन के अन्य आनन्दों की तुलना में भिन्न ही प्रकार का होता है। और निर्विघ्न होने से वह रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति, प्रतीति और प्रमातृ-विश्रान्ति के नाम से पहिचाना जाता है। इसी कारण से, परामर्श वाला हृदय ही उसमें प्रधान होने से वह आनन्द-हृदय (हृद्य) नाम से पहिचाना जाता है। और वेद्य में स्थित प्रकाश भाग चालू तो रहता है, परन्तु वह अधिक मात्रा में न होने से यह स्थिति 'सहृदयता' कहलाती है। निर्विघ्न आस्वादरूप रसना का विषय बनती चित्तवृत्तियाँ ही नौ रस हैं यह बात हम नाट्य-वेद की विवृत्ति (व्याख्या) अभिनव-भारती में विस्तार से बता चुके हैं अतः जिज्ञासु उसे वहाँ पढ़ लें। यहाँ प्रस्तुत विषय में विघ्नरूप होने से उसका विस्तार किया नहीं गया है। अतः संवेदन से अभिन्न और वस्तुतः स्वतन्त्र ऐसी आत्मा का रसना की एकघनता पूर्ण परामर्श ही चमत्कार, परमानन्द और निर्वृति कहा जाता है। इसलिए उत्पलाचार्य ने योग्य ही कहा है कि 'चमत्कार के अभाव में' ···आदि। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि मधुरादि रसों के आस्वाद में तो विषय-स्पर्श का ही व्यवधान होता है और काव्य-नाट्य में ऐसा व्यवधान नहीं होता,

फिर भी वह संस्काररूप में स्थित है ही। काव्य-नाट्य में भी जो सहृदय इस व्यवधान अंश को ढँक देने की सतर्कता रखते हैं, उन्हें परमानन्द की प्राप्ति होती ही है। कहा है कि खाने-पीने से होनेवाले उल्लास में भी परमानन्द का अनुभव होता है (वैज्ञान-भैरव, श्लो० ७२)। तुलना कीजिए–तन्त्रालोक खण्ड ३, पृ० २१८, क्षेमराज स्तव-चिन्तामणि, पृ० ७१। "इत्थं च तत्तत्परिमितानन्देऽपि एकाग्रीभावितचित्तः परमानन्द-माविशति योगिजनः।" अर्थात् तद्-तद् परिमित आनन्द में भी योगीजन एकाग्र चित्त बन कर परमानन्द प्राप्त करता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

१. नाट्यशास्त्र (अभिनव-भारतीसहित), खण्ड १, संस्करण दूसरा, १९५६, प्राच्य विद्यामन्दिर, बड़ौदा।

२. नाट्यशास्त्र (अभिनव-भारतीसहित), खण्ड २, संस्करण पहला, १९३४, प्राच्य विद्यामन्दिर, बड़ौदा।

३. नाट्यशास्त्र (अभिनव-भारतीसहित), खण्ड ३, संस्करण पहला, १९५४, प्राच्य विद्यामन्दिर, बड़ौदा।

इस लेख में नाट्यशास्त्र के तथा अभिनव-भारती के उद्धरण इन ग्रन्थों के आधार पर दिये गये हैं।

4. The Aesthetic Experience According to Abhinav Gupta—Rani-erio Gnoli Instituto-Italiano per il Medeo ed Estremo Oriente Roma 1956.

मूल समझने, अनुवाद करने तथा पादटिप्पणियों में भी मुझे इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिली है।

५. हिन्दी अभिनव-भारती, सम्पादक तथा भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्त-शिरोमणि, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६०। इसमें केवल १,२,६ अध्याय ही हैं। उसमें मूल, पाठचर्चा, अनुवाद तथा व्याख्याएँ समाविष्ट हैं।

६. ध्वन्यालोक (लोचन तथा बालप्रिया टीकासहित), काशी संस्कृत सिरीज। चौखम्भा संस्कृत सिरीज ऑफिस, १९४०।

इस लेख में ध्वन्यालोक तथा लोचन सम्बन्धी उद्धरण इस ग्रन्थ के आधार पर दिये गये हैं।

७. ध्वन्यालोक, खण्ड १-२ (लोचन तथा तारावती हिन्दी टीकासहित), अनुवादक तथा व्याख्या करने वाले डॉ० रामसागर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३।

८. भारतीय साहित्य-शास्त्र (मराठी), गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे, पॉप्युलर बुकडिपो, बम्बई, १९५८।

मूल समझने में मुझे इस ग्रन्थ से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है।

9. History of Sanskrit Poetics :—Sushil Kumar De, Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960.

10. Some Problems of Sanskrit Poetics :—Sushil Kumar De, Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1959,

११. काव्यानुशासन, आचार्य हेमचन्द्र, सम्पादक : रसिकलाल छोटालाल परीख, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९६४।

१२. काव्य-प्रकाश (वामनाचार्य झलकीकर की बालबोधिनी टीका सहित), छठा संस्करण, भाण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, पूना, १९५०।

१३. काव्य-प्रकाश, कलकत्ता संस्कृत सिरीज, सम्पादक : अमरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ तथा उपेन्द्रमोहन सांख्यतीर्थ, अंग्रेजी में २३ पृष्टों की भूमिका—श्री सुशीलकुमार दे, एम० ए०, डी० लिट्, अंग्रेजी १५० पृष्ठों में ग्रन्थसार—श्री अमरेश्वर ठाकुर, एम० ए०, पी-एच० डी०, वेदान्ततीर्थ।

दस पृष्ठों में सभी कारिकाएँ अलग दी गयी हैं। दो संस्कृत टीकाएँ हैं।
प्रकाशकः—मेट्रोपोलिटन प्रेस एण्ड पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९३६ (१९३६)।

१४. रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४।

———

परिशिष्ट

भारतीय रस-विचार

(लेखक : रान्येरो नोली)

भारत में रसानुभूति के विवेचन का जन्म केवल तत्त्व-जिज्ञासा में से नहीं, किन्तु व्यावहारिक उपयोग के प्रयोजन में से हुआ है। प्रारम्भ में यह नाटक तक सीमित था। इस विषय पर प्राचीनतम ग्रन्थ तो नाट्यशास्त्र है (ई० स० ४थी या ५वीं शती)। परम्परागत मान्यता है कि उसे भरत ने रचा था। उसमें नाट्य-प्रयोग तथा नटों के प्रशिक्षण विषयक अनेक नियम व सूचनाएँ (निर्देश) संगृहीत हैं। उसमें नाट्य पर दृश्य और श्रव्य-कला के समन्वय के रूप में विचार किया गया है। अन्य किसी भी कला की तुलना में नाट्य में ये दो अधिक सरलतापूर्वक सहयोग कर प्रेक्षक में ऐसी प्रतीति उत्पन्न करती हैं, जो साक्षात्कारात्मक होती है। उसका अनुभव रस या स्वाद-जैसा होता है, और उसे 'रस' कहा जाता है।

प्रेक्षक जब इस रस का आस्वाद करता है तब वह उसमें व्याप्त हो (फैल) जाता है तथा उसे आनन्द की अनुभूति कराता है। अतः रसानुभूति का मतलब है, इस रस का आस्वादन, अन्य सब कुछ भूलकर इसी में तल्लीन हो जाना। भरत ने अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र में कहा है कि नाट्य का नटों के अभिनय के साथ संयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। इस सूत्र की परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं और उसमें से 'रस-निष्पत्ति' विषयक भिन्न-भिन्न वाद उत्पन्न हुए। भरत द्वारा कथित यह रस-तत्त्व ही अनेक आचार्यों के अध्ययन व विश्लेषण का विषय बन गया है। प्रत्येक आचार्य ने भरत मुनि के बचनों की विस्तृत व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

ऐसे आचार्यों में प्राचीनतम हैं, दण्डी और भट्ट लोल्लट। दण्डी का समय लगभग सातवीं शती तथा लोल्लट[1] का लगभग नौवीं शती है।

आश्चर्य की बात है कि ये आचार्य रस को सुख-दुःखादिवत् लौकिक चित्तवृत्ति मानते थे। नाट्य-प्रयोग और नट के व्यापार के सम्मिलित प्रभाव से यह चित्तवृत्ति जब परिपोष की चरम सीमा तक पहुँच जाती है तब रस कहलाती है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार रस मुख्यतया अनुकार्यगत और अनुसन्धान-बल से केवल उपचार से ही अनुकर्ता (नट) गत है। लोल्लट के बाद थोड़े समय में हुए शंकुक[2] ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के मत का स्पष्ट विरोध किया। उनके मतानुसार रस परिपुष्ट स्थायी नहीं है,

---

१. देखिए, पृ० १३-१६।

२. देखिए, पृ० १७-२३।

किन्तु स्थायी का अनुकरण है—अनुकृत स्थायी है। नट रामादि के स्थायी का अनुकरण करता है और प्रेक्षकों को उस अनुकृत स्थायी की रसरूप में प्रतीति होती है। यह प्रतीति सत्य-मिथ्या के विचारों से मुक्त है। शंकुक कहते हैं कि चित्रकार द्वारा अंकित घोड़ा प्रेक्षक को सत्य भी प्रतीत नहीं होता, मिथ्या भी प्रतीत नहीं होता, उसे सत्य-मिथ्या का ख्याल लागू होता ही नहीं है। सत्य-मिथ्या का विचार उत्पन्न होने के पूर्व ही वह मूर्तरूप में अनुभूत हो जाता है।

लोल्लट और शंकुक के मतों की भट्ट नायक ने सख्त आलोचना की है। भट्ट नायक[1] भारतीय रस-मीमांसा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

भट्ट नायक के मतानुसार रस न तो परिपुष्ट स्थायी है, न ही अनुकृत स्थायी। ये दोनों मत (वाद) रसानुभूति की विशिष्ट प्रकृति को स्पष्ट समझाने में असफल हुए हैं। भट्ट नायक के मतानुसार रस एक ऐसा आनन्द है, जिसका किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है। कला द्वारा अनुभव किया जाने वाला स्थायीभाव—रति, क्रोध, दुःख आदि किसी भी स्वरूप का क्यों न हो—व्यवहार-जीवन का भाग बनता नहीं है, किन्तु नितान्त निर्वैयक्तिक रूप में अनुभव किया जाता है। काव्य-नाटक में होने वाली घटनाएँ व्यावहारिक जीवन के साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रखती नहीं हैं तथा इन घटनाओं का काव्य अथवा नाटक के नायक किंवा नट के जीवन से भी कोई सम्बन्ध होता नहीं है। अतः ये सब केवल साधारणीकृत रूप में अथवा साधारण भाव से प्रतीत होते हैं। वे व्यक्ति-सम्बद्ध नहीं हैं।

भट्ट नायक-प्रतिपादित रसानुभव के साधारण्य (साधारणीकरण) का अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया उसमें किंचित् संशोधन भी किया। इस साधारणीकरण में स्थल-काल की सीमाएँ नहीं होतीं। [स्थल-काल का सम्बन्ध तो बौद्धिक सविकल्प ज्ञान से है] और इसीलिए भावक की परिमित प्रमातृत्व की सीमाएँ भी उसे होती नहीं हैं; इसका अर्थ यह हुआ। भावक स्वयं इन स्थलकालादि की सीमाओं से परिबद्ध होता है किन्तु रसानुभूति के समय, उस काल के लिए वह स्थल-काल तथा कार्य-कारण सम्बन्धों से परे तथा अपने व्यवहार-जीवन-प्रवाह से भी परे, दुनिया से ऊपर उठ जाता है।[2] कार्यकारण से प्रभावित संसार के साथ का सम्बन्ध रसानुभूति के समय स्पष्टतः छिन्न हो जाता है। रसानुभव तो जादू से खिले फूल की तरह प्रस्फुटित हो जाता है। इसका अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती व स्वाभाविक गति से चलने वाले व्यवहार-जीवन के साथ स्थलगत या कालगत कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त ने रसास्वाद को लोल्लट तथा शंकुक द्वारा निरूपित प्राथमिक व अत्यन्त स्थूल अवस्था से उबार लिया है। रस कोई

---

१. देखिए, पृ० ३९-४५।
२. देखिए, पृ० ५५-५६।

अनुभव के पूर्व सिद्ध पदार्थ नहीं है किन्तु उसकी प्रतीति ही रस है। यह प्रतीति निर्विघ्न तथा सभी व्यावहारिक प्रयोजनों से मुक्त होती है अतः वह रसरूप में आस्वादित की जाती है।[1] भावक को रसास्वाद के समय उस चर्वणा में ही अपनी सभी इच्छाओं की परिपूर्ति प्रतीत होती है; इस अर्थ में रस आनन्द, निर्वृति और विश्रान्ति तथा लय रूप होता है। रस का अपने से बाहर कोई प्रयोजन नहीं है, वह सम्पूर्णतः आत्मपर्याप्त है। और इसीलिए वह आनन्दमय, निर्वृति तथा विश्रान्तिरूप होता है।[2] रसानुभव के लिए सभी व्यावहारिक इच्छाओं का क्षय और भावक की विषय में ही तल्लीनता—विगलितवेद्यान्तरता—आवश्यक है। भावक के चित्त में व्यावहारिक इच्छाएँ तथा प्रयोजनों का उदय होते ही स्वतः ही रसानुभूति की एकघनता में विक्षेप होता है; ये बाह्य वृत्तियाँ उसमें विघ्नरूप हो जाती हैं, क्योंकि उनके मूल में विक्षोभक अहं स्थित होता है।[3] रसानुभव, धर्मानुभव तथा योगानुभव के पारस्परिक सम्बन्ध का परीक्षण करना भारतीय-विचार का प्रिय विषय है तथा भट्ट नायक की, उससे भी अधिक स्पष्टरूप से इसे समझने वाले अभिनवगुप्त के रस-विचार की तो यह एक विशिष्टता है। भारत में चिन्तकों ने अमूर्त विचार को उसकी संकुल आध्यात्मिकता की व्यवस्था के मूर्त साक्षात्कार से कभी अलग किया ही नहीं है। वे सदैव उसे जीवन में आचरित करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। इस दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक अभिगम के फलस्वरूप आगे चलकर उन्होंने वस्तु को मानस प्रत्यय कल्पित किया है। भारतीय चिन्तन पश्चिमी चिन्तन से भिन्न मार्ग पर चला है, फिर भी उसे एक समय यह प्रतीत हुआ कि वस्तु तो ज्ञानरूप है, विचाररूप है और समग्र विश्व अन्ततः तो 'आत्म' पर आधारित है। रस-विचार भी आध्यात्मिक (दार्शनिक) विचारों के अंचल में जन्मा है, विकसित हुआ है अतः रसानुभव और धर्मानुभव के बीच का भेद व उसका अध्ययन करने से वह चूका नहीं है। इस प्रश्न का सर्वप्रथम मुकाबला करने वाले थे—भट्ट नायक। उनके मत में रसानुभूति में भावक आस्वाद्य विषय में विगलित वेद्यान्तर भावेण लीन हो जाता है, अतः उसमें उसका व्यवहार-जीवन उस क्षण-भर के लिए स्थगित हो जाता है; उस अंश में रसानुभव ब्रह्मास्वाद सहोदर है।[4] किसी भी प्रकार का आनन्द वह दैवी परमानन्द का रूप ही है और वही चिति का प्राण है।[5] रसानुभव व्यक्ति-सम्बन्धों से और व्यावहारिक प्रयोजनों से मुक्त होता है अतः वह योगी को प्राप्त परमानन्द का एक प्रकार ही है और तत्कालपर्यन्त वह संसार को निर्वाण में परिवर्तित कर देता है। योगानुभव में आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार होने पर दुःख भी सुख बन जाता है, वैसा ही रसानुभव के समय भी देखा जाता है। उसमें भी बहुत तीव्र शोक

---

१. देखिए, पृ० ७२-७३।
२. ,, पृ० ४३-६०।
३. ,, पृ० ५७।
४. ,, पृ० ४३-४४।
५. ,, पृ० ६६।

को निर्विघ्न चर्वणा में, तन्मयतारूप आनन्द में परिवर्तित कर देने की अद्भुत (जादुई) शक्ति है। दुःख जो रजस् का धर्म है और चांचल्य व अविश्रांति रूप है, उसे रसानुभव में स्थान ही नहीं है, क्योंकि रसानुभव का अर्थ ही विश्रान्ति, निर्वृति तथा सर्व इच्छाओं की परिपूर्ति है।[1]

अभिनवगुप्त ने भट्ट नायक की व्याख्या स्वीकार की, किन्तु साथ ही उन्होंने रसानुभव और योगानुभव की भेदक रेखा भी स्पष्ट खींच दी। धर्मानुभव में सभी द्वन्द्व पूर्णरूप से नष्ट होते हैं। ईश्वर की द्रावक अग्नि में सभी भेद गल जाते हैं। चिति की प्रोज्ज्वल ज्वाला में चन्द्र, सूर्य, रात-दिवस, शुभ-अशुभ सब भस्म हो जाता है। फिर योगी अपने चित्त की एकघनता में सविकल्प विचार से दूर-दूर अकेला रहता है।[2] परन्तु रसानुभव में भले ही व्यवहार-जीवन के भाव व घटनाएँ रूपान्तरित हुई हों, सदैव बनी रहती हैं। अर्थात् एक तरफ से रसानुभव अपने शुद्ध और सच्चे स्वरूप में सामान्य अनुभव या प्रतीति से भिन्न है और इसलिए बौद्धिक सविकल्प ज्ञान जैसा नहीं है, तो दूसरी तरफ इसके विषय की दृष्टि से सभी व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त ऐसा व्यवहार-जीवन ही उसका विषय है, अतः रसानुभव भी किसी भी प्रकार के सविकल्प ज्ञानवत् ही है। कला का अर्थ जीवन का अभाव नहीं है—(कलानुभव में जीवन के सभी तत्त्व समाविष्ट हैं)—यह तो जीवन ही है। वह तो केवल सभी विषयों से विमुख व शान्त है। (तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः, विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या।—अभिनव-भारती, खं० १, पृ० ३३९) और भक्ति तो यह चाहती है कि भक्त परमेश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण कर दे।[3]

ईश्वर यों तो सर्वव्यापी है और उसका विचार करने वाला विचार के साथ एक-रूप होता है, फिर भी अभिनवगुप्त के मतानुसार योगानुभव के क्षण उससे भिन्न व पर बन जाता है।[4]

योगी का लक्ष्य उस 'पर' तत्त्व से तादात्म्य साधित करना होता है। अतः धार्मिक भक्ति में अपने से बाहर किसी ध्येय के प्रति निरन्तर गति गर्भित है और रसानुभूति तो उससे बिलकुल उलटी ही वस्तु है। रसानुभूति तो पूर्णतः आत्मपर्याप्त होती है।

काव्य भाषा की प्रकृति कैसी होती है? इस प्रश्न ने ९वीं शती में आनन्दवर्द्धन

---

१. देखिए, पृ० ६६।

२. देखिए, पृ० ७६।

३. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञादर्शनविवृत्तिविमर्शिनी', खण्ड १, पृ० २५ पर भक्ति को 'परमेश्वरविषयवैवेश्यसमावेश रूपा' कहा गया है।

४. विमर्श अथवा संवित् स्वयं तो ज्ञाता है, फिर भी वह जब ज्ञान का विषय बनता है, अर्थात् जब संवित् का विचार किया जाता है या उसका ध्यान किया जाता है, तब वह अहं, आत्मा, चिति (संवित्) ईश्वर, परमेश्वर, शिव आदि का रूप धारण करता है। यह विचार 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञादिवृत्तिविमर्शिनी' में तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञादिवृत्ति', ख० १-५, श्लो० १५-१७ में विस्तार से विवेचित हैं। तुलना कीजिए ई० वि० ख० १, पृ० ५५-५६।

का ध्यान आकृष्ट किया था। वह अपने योग्य रीति से ही प्रसिद्ध हुए ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में कुछ ऐसे निर्णय पर पहुँचे थे जिनमें से प्रायः सभी—अल्प अपवादों को छोड़कर-परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए हैं। १५० वर्ष बाद अभिनवगुप्त ने उस ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि काव्य-भाषा गद्य की व्यवहार-भाषा से भिन्न होती है, वह वाचक में प्रतिघोष व भाव उजागर करती है। संक्षेप में वह रसानुभव कराती है। गद्य ऐसा नहीं करता। वह तो केवल जानकारी व उपदेश ही देता है। गद्य के शब्दों की दो अथवा किन्हीं-किन्हीं के मतों से तीन शक्तियाँ होती हैं जिनमें मुख्य अभिधा होती है तथा वह संकेतित अर्थ का बोध कराती है। रसोद्बोध को तथा वाच्यार्थबोध को एक या अभिन्न नहीं समझा जा सकता। आनन्दवर्द्धन रसानुभूति को एक शक्ति, व्यापार या वृत्ति के रूप में कल्पित करते हैं। वह अकल्पनीय ढंग से और असंलक्ष्यक्रम से एक नवीन अर्थ का बोध कराता है। वह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। वही रस है। उसे ही इस सम्प्रदाय ने ध्वनि या रसध्वनि ऐसा नाम दे दिया है। अपनी टीका में अभिनवगुप्त रस और शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाते हैं। यह न तो प्रकृति-गोचर कार्य-कारण सम्बन्ध है, न तो ज्ञानशास्त्र में निरूपित ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध ही। परन्तु वह सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। रस कवि के शब्द से न तो उत्पन्न ही होता है, न ज्ञात ही, किन्तु वह तो अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार काव्य-शब्द से उत्पन्न या ज्ञात नहीं किन्तु अभिव्यक्त होने वाले रस को अपने पूर्व या पर की किसी स्थिति से कोई लेना-देना (सम्बन्ध) नहीं है किन्तु व्यवहार-जगत् के प्रवाह में वह एक अद्भुत अंगरूप होता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार गद्य शब्द तो केवल जानकारी (ज्ञान) का साधन है। और उसका कार्य पूर्ण हो अर्थात् उसके अर्थ का बोध हो जाने पर उसका कोई उपयोग नहीं होता है। इसके विपरीत काव्य का शब्द तो स्वयं ही साध्य है। एक बार उसे पढ़ा हो अथवा उसका आस्वादन किया हो, फिर भी उसका मूल्य जरा भी कम नहीं होता, वह बिलकुल वैसे का वैसा नया ही रहता है। परम्परा तथा भट्ट नायक के विरुद्ध जाकर अभिनवगुप्त मानते हैं कि कला उपदेश नहीं देती है, अगर देती भी है तो परोक्ष पद्धति से ही देती है एवं भावक की प्रतिभा को अथवा सहृदयता को केवल वर्द्धित करती है।

रसानुभव का मुख्य सम्बन्ध भावक के साथ है। उसकी चर्चा के साथ ही भारत में कृतिकार जिस क्षण अपनी कृति में प्राण फूँकता है, उस सृजन-क्षण का भी विचार लगा हुआ है। काव्योत्पत्ति का विचार करने वाले आचार्यों में आनन्दवर्द्धन, भट्ट तौत और अभिनवगुप्त तीन मुख्य हैं। आनन्दवर्द्धन कहते हैं :

'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥'

"अपार काव्य-संसार में कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है, वैसा सब कुछ पलट जाता है।" कवि तो ऋषि भी हो सकता है और वर्णनानिपुण भी होता है।

वस्तुतः तो रस कवि में ही रहा होता है। वह उसकी साधारणीभूत संवित् होती है।[१] कवि जब रस से लबालब भर जाता है तब पानी से भरे हुए घड़े की तरह काव्य के रूप में वह छलक जाता है जिस प्रकार भावावेश के समय अभावित उद्गार होते हैं वैसे।[२]

इसका अर्थ यह है कि काव्य कवि के अन्तर्गत साधारणीभूत भाव का अर्थात् स्थल-काल तथा व्यक्तिरहित भाव का अव्यवहित उच्चार है। इसमें लौकिक लाभ-अलाभ का कोई स्थान नहीं है। कवि में स्थित संस्काररूप प्रतिभा के बल पर वह प्रकट होता है।[३] यही साधारणीभाव काव्य में व्यक्त होता है तथा व्यक्त होने के बाद वह नट में या पाठक में एवं प्रेक्षक में संक्रमित होता है।[४] वह कवि-हृदय में जन्म लेता है, नट में खिलता है और भावक में फलता है।[५] इस प्रकार काव्यनाट्य के भावन में वस्तुतः तीनों मिल कर एक भावक बन जाते हैं तथा इन तीनों का अनुभव एक ही होता है।[६]

अभिनव-परवर्ती कतिपय आचार्यों ने कहा है कि सृजन का क्षण केवल आनन्द का क्षण नहीं होता, उसमें चिन्ता, श्रमादि भी होते हैं। इस प्रकार वे सृजन-प्रक्रिया के दो विभाग कर देते हैं : प्रथम भूमिका में कवि सृजन को थका दे ऐसी प्रवृत्ति में लीन होता है, दूसरी में वह स्वयं मानो अपने आपसे अलग निकल कर अपनी ही कृति का भावकवत् आस्वादन करता है।[७]

---

१. 'कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः, सैव च संवित् परमार्थतो रसः।' अभिनवभारती, खं० १, पृ० २९४।

२. 'रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च''' ध्वन्यालोक, पृ० ८६, अभिनवगुप्त कहते हैं कि कविता तो रससमुच्चलनस्वभावा—होती है। (ध्वन्यालोक, पृ० ८७) वहीं अभिनवगुप्त ने भट्टनायक का एक श्लोक उद्धृत किया है—यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।'

३. अभिनवभारती, खं० १, पृ० ३४५ पर कहा है कि 'कवेः वर्णनानिपुणस्य यः (भावो) अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो, न तु लौकिकविषयजो देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यस्तं भावयन् आस्वादयोग्यी कुर्वन्'''पाठ सन्दिग्ध है। (तुलना कीजिए, ध्वन्यालोक, पृ० ४९८)।

४. अभिनवभारती, खं० २, पृ० ३३९ पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि सहृदयत्व अर्थात् कवि के हृदय के साथ तादात्म्य साधने की शक्ति। कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यता।

५. अभिनवभारती, खं० १, पृ० २९४ : 'ततोवृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापारः। तत्र फल स्थानीयः सामाजिक रसास्वादः।

६. भट्ट तौत का अभिनवगुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक-लोचन' में उद्धृत श्लोक देखिए :—
'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' पृ० ९२।

७. हेमचन्द्र विवेक में पृ० ४ पर कहते हैं—
'कवेरपि भावकावस्थायामेव रसास्वादः सम्पद्यते पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वम्।
माणिक्यचन्द्र कहते हैं (पृ० ७) कि सृजन के क्षणों में कवि काव्यार्थ की चिन्ता में लीन होता है [काव्यार्थ चिन्तन पर] यह विचार ठेठ अभिनवगुप्त तक पहुँच गया ऐसा

भाव को स्थलकालादि से मुक्त कर रस में रूपान्तरित करनेवाली शक्ति, प्रतिभा है। प्रतिभा ही चिति, आत्मा है। अधिकांश व्यक्तियों में वह स्थलकाल की तथा व्यवहार के सम्बन्धों की मर्यादा के बन्धनों में से अपने को मुक्त कर नहीं पाती, परन्तु कवि में वह शुद्ध तेज (प्रकाश) के रूप में प्रकाशमान होती है और योगियों में तो अपने सम्पूर्ण तेज से प्रकाशित हो उठती है।[१]

कलाकृति का सृजन एक नये विश्व के सृजन के सदृश है जो कवि की प्रतिभा में एकदम खिल उठता है। यह सर्जक प्रतिभा ही परावाक् वही अचेतन पदार्थों को चेतनायुक्त तथा चेतन पदार्थों को अचेतन बना देती है।[२] वह नवनवोन्मेष का अक्षय भण्डार तथा उद्भव स्थान है।[३] और उसके द्वारा सर्जित रूप संसार के रूपों की तुलना में जरा भी कम सत्य नहीं होते, भले ही भिन्न भूमिका पर हों।

इस दृष्टि से विचार करने पर कवि-प्रतिभा विश्व-प्रतिभा का ही एक तत्त्व है। यह विश्व-प्रतिभा ही विश्व का सृजन करती है और उसे निरन्तर नवीन रूप प्रदान करती रहती है।[४]

हेमचंद्र ने बहुधा भट्ट तौत के ही तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें…

यथा यथा चाकृतकं तद्रूपमतिरिच्यते।
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं विभाव्यते॥

मानना—नितान्त उपेक्षणीय नहीं है। (उसने अपने ग्रन्थ 'काव्य कौतुक विवरण' में इसकी चर्चा की हो ऐसा सम्भव है; किन्तु वह ग्रंथ आज अनुपलब्ध है। इसमें सृजन की पूर्ण चर्चा की गयी थी।) ध्वन्यालोक में पृ० ९६ पर अभिनव गुप्त कहते हैं कि कवि किसी लौकिक भाव के वशीभूत नहीं होता। अतः वह दुःखानुभव करता नहीं होता; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह सृजन प्रयत्न की चिन्ता से व्यग्र नहीं है।

१. यह विचार तंत्रालोक में खं० ११, पृ० ६०-६२ पर व्यक्त किया गया है।

२. तुलना कीजिए, ध्वन्यालोक, पृ० ४९८

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रया॥

३. भट्ट तौत ने प्रतिभा की परिभाषा एक अति प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार दी है। 'प्रज्ञा नव-नवोन्मेष शालिनी प्रतिभामता।' प्रतिभा एक प्रकार की प्रज्ञा है। प्रज्ञा और प्रतिभा का सामान्य अर्थ भविष्य का एकदम होने वाला ज्ञान है। जैसा कि 'कल मेरा भाई मुझसे मिलेगा'…आदि। राजशेखर तीन प्रकार की बुद्धि बतलाते हैं। भूतकालीन अर्थ की स्मृति देने वाली—स्मृति, वर्तमान का चिन्तन करानेवाली मति और अनागत का विशेष ज्ञान करानेवाली प्रज्ञा (काव्य मीमांसा—४) काव्यप्रतिभा प्रत्यक्षकल्प होती है। और वह निर्विकल्प होती है।

४. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ९१ पर कहते हैं कि कविप्रतिभा का विशेष प्रकार (प्रतिभा-विशेषम्) है। उस पर अभिनव टीका करते हुए कहते हैं 'प्रतिभा' अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा; तस्या 'विशेषो' रसावेश वैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माण क्षमत्वम्।' शैव दर्शन में प्रतिभा को सर्जक विसर्ग कहा गया है। तन्त्रालोक खं० ५, पृ० ४३२ पर कहा गया है—विसर्गानन्द-धारया। सिक्तं तदेव सद्विश्वं शश्वन्नवनवायते॥

आद्यमयीय वर्णान्तर्निमग्ने चोत्तरोत्तरे।
संकेते पूर्वं पूर्वांशमज्जने प्रतिभाभिदः॥
आद्योद्रेक महत्त्वेऽपि प्रतिभात्मनि निष्ठितः।
ध्रुवं कवित्ववक्तृत्वशालितां यान्तिसर्वतः॥
यावद्धामनि संकेत निकारकलनोज्झिते।
विश्रान्तश्चिन्मये किं किं न वेत्ति न करोति च॥

सर्जक प्रतिभा तथा बुद्धि के बीच का भेद तथा उनकी विशेषताएँ स्पष्ट की गयी हैं।[1] इन श्लोकों में ज्ञान को दो प्रकार का बताया गया है—१. बुद्धिगम्य अर्थात् विकल्प गोचर ज्ञान, सामान्य विषयक ज्ञान तथा २. विशेष विषयक ज्ञान, जो बुद्धि व्यापार के पूर्व उत्पन्न होता है और भाषा के क्षेत्र के बाहर की चीज है। अन्तिम श्लोक में कहा है कि प्रत्यक्ष का विषय विशेष है और वही प्रतिभाशील सत्कवियों की वाणी का विषय होता है। इस प्रकार प्रतिभा एक प्रकार की साक्षारात्मक प्रज्ञा है और कवि जब रचना के पूर्व की खोज में तथा श्रम में डूबा होता है तब वस्तु के स्वरूप लक्षण के स्पर्श से वह एकदम प्रगटित हो उठती है। अर्थात् उसमें मन का व्यापार होता नहीं है। योगचिन्तन के क्षेत्र से उधार उपमा लेकर कवि-प्रतिभा को शिव का तृतीय नेत्र कहा गया है। इससे कवि त्रिकालवर्ती पदार्थों का बुद्धि की सहायता के बिना ही साक्षात्कार कर सकता है।[2]

न्याय की तथा व्यवहार की भाषा वस्तु तथा हमारी चिति के बीच व्यवधान रूप बन जाती है। काव्य की तथा व्यवहार की भाषा के बीच अन्तर यह है कि काव्य की भाषा में ये भूमिकाएँ होती ही नहीं हैं; और इससे उस वस्तु का स्वरूप विकल्प ज्ञान में बँधने के पूर्व ही उसका साक्षात्कार करती है। इस अर्थ में काव्य की भाषा सहजोद्‌गारों के सदृश काकुवत् या मंत्रवत् होती है।[3]

---

१. विवेक, पृ० ३८०:

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद् विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते ध्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षगोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभासुवम्॥

२. हेमचन्द्र विवेक, पृ० ३८०:

रसानुगुण शब्दार्थचिन्तारित्तमित चेतसः
क्षणं स्वरूपस्यर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

३. परात्रिंशिका विवरण, पृ० २०२ पर अभिनव गुप्त कहते हैं :—

एता एव हि (स्वराः) चित्तवृत्तिसूचका नादात्मकाः करुण शृंगार शान्तादिकां चित्त-

अभिनव गुप्त के बाद भी आज तक रस शास्त्र का अध्ययन भारत में चालू रहा है; किन्तु इसमें कोई नवीन सर्जक परिबल (तत्त्व) प्रगट नहीं हुआ। आनन्दवर्द्धन, भट्ट तौत और अभिनव ही अधिक-से-अधिक विशेषता रखने वाले विचारक हैं। कभी-कभी अनिश्चित तथा युक्ति-पूर्ण प्रतीत होने पर भी अभिनव गुप्त कतिपय ऐसे निर्णयों पर पहुँचे हैं, जो आज भी प्रामाण्य तथा पश्चिमी चिन्तन के लिए भी नवीन प्रतीत हों ऐसे हैं। पश्चिम में कान्ट द्वारा स्थापित यह दर्शन कि कला व्यावहारिक लाभालाभ से परे तथा आत्मा की प्रवृत्ति है, भारत में ठेठ दशवीं शती में चर्चा (विवेचन) का विषय बन चुका था। अभिनव गुप्त तथा आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि काव्य तो निर्वाण है। वह आज है और सदैव रहेगा। प्रेम की भाँति उसने मानव-हृदय को नये व स्पंदनशील जीवन से चेतनायुक्त बना दिया है तथा बनाता रहेगा। वह मानव प्रकृति का आवश्यक व स्वतन्त्र अंश है और कवि गण उसके स्रोत में से ग्रहण करते हुए कभी रुकने वाले नहीं हैं। वह केवल अधिक-से-अधिक शुद्ध व नये-नये अनुभवों से समृद्ध होता रहेगा।*

———

वृत्तिमाक्रन्दन चाटुकस्तुत्यादौ केवला वा योनिवर्णननिविष्टा वा तिर्यक् तत्तद्दर्जातादिश्वपि प्रथमत एवापतन्तः संकेत विघ्नादि नैरपेक्ष्येनैव संविदास्तन्न वर्तित्वात्स्वर काक्वादिरूपता मश्नुवानाः प्रकाशयन्ति।

* 'The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta'—की प्रस्तावना।

रसाभास : उसका स्वरूप और काव्य में स्थान

मैंने आज अपने व्याख्यान के लिए 'रसाभास : उसका स्वरूप और काव्य में स्थान' विषय चुना है।

पहले मैं यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार रसाभास का स्वरूप कैसा है और उन्होंने काव्य में उसे क्या स्थान दिया है? बाद में श्री विष्णुभाई, श्री ज्योतीन्द्र दवे और श्री मांकड के लेखों से उत्पन्न कुछ मुद्दों की चर्चा करूँगा।

ध्वन्यालोक में रसाभास

आप सभी जानते ही हैं कि आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना करके उसके दो प्रकार बताये हैं : १. अविवक्षितवाच्य ध्वनि और २. विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि। इसके बाद दूसरे उद्योत में इन दोनों के प्रभेदों को दर्शाया है। इनमें अविवक्षितवाच्य के दो भेद—१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हैं। बाद में विवक्षितअन्यपरवाच्य के प्रभेदों को बताते हुए वह कहता है : इसके दो प्रभेद हैं—१. असंलक्ष्यक्रम और २. संलक्ष्यक्रम। इसके बाद वह तीसरी कारिका में कहता है कि—

'रस, भाव, उसका आभास तथा उसकी प्रशान्ति आदि रूप व्यंग्यार्थ जब अंगी भाव में प्रकट हो तब उसे असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहा जाएगा।'

अभिनव प्रदत्त इसकी स्पष्टता

ध्वन्यालोक की कारिका अथवा वृत्ति—इनमें से किसी में भी रसाभास का स्वरूप समझाया नहीं गया है। किन्तु इस कारिका की लोचन टीका में अभिनव गुप्त ने कहा है कि—

यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः।—पृ० १७७–८

'अर्थात् जब विभावाभास से रत्याभास का उदय होता है तब विभावानुभास से चर्वणाभास होता है और वह रसाभास का विषय माना गया है।' वह आगे कहता है : 'जिस प्रकार रावण का काव्य सुन कर शृंगाराभास की प्रतीति होती है' 'यहाँ स्थायिभाव ही नहीं—इस प्रकार की अगर कोई आपत्ति उठाये तो उसका उत्तर है कि यहाँ परस्पर आस्थाबन्ध का अभाव है, अतः यह कौन कहता है कि यहाँ स्थायि-भाव है? यह तो रत्याभास है। यहाँ आभासत्व इसलिए है कि सीता मेरी उपेक्षा करती है अथवा मुझसे द्वेष करती है, इस प्रकार की प्रतिपत्ति रावण के हृदय को स्पर्श नहीं करती और अगर स्पर्श कर जाय, तो उसकी भी अभिलाषा विलीन हो जाय।

दूसरे, रावण के मन का यह निश्चय कि सीता मुझमें अनुरक्त है, व्यर्थ है क्योंकि वह कामजन्य मोह से जन्मा है। इसलिए यहाँ वस्तुतः तो श्रृंगार का आभास है—शुक्ति में रजत के आभास के समान।'

अगर इससे हम कोई परिणाम निकालना चाहें तो पता चलेगा कि श्रृंगार रस के विभाव अर्थात् आलम्बन विभाव बनने के लिए दोनों पात्रों में एक-दूसरे के प्रति आस्थाबन्ध होना आवश्यक है। इसके अभाव में आलम्बन विभाव हो ही नहीं सकता। यहाँ सीता के मन में रावण के प्रति आस्था नहीं है, अतः सीता रावण के लिए आलम्बन विभाव नहीं बन सकती। रावण सीता के प्रति आसक्त है इसीलिए वह सीता को अपना आलम्बन मान बैठता है और इससे जो चर्वणा उत्पन्न होती है वह वास्तविक चर्वणा नहीं, पर चर्वणाभास मानी जायेगी। इसलिए यहाँ श्रृंगार की नहीं अपितु श्रृंगाराभास की प्रतीति होती है। यह तो मत अभिनव गुप्त का हुआ।

मम्मट का निरूपण

अब हम मम्मट का निरूपण देखेंगे। मम्मट काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे तीन भेद करता है और उन्हें क्रमशः ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र नाम प्रदान करता है। द्वितीय और तृतीय उल्लासों में शब्दशक्तियों का निरूपण कर चौथे उल्लास में ध्वनिरूप उत्तम काव्य के भेद समझाता है। वह भी आनन्दवर्द्धन का अनुसरण कर १. अविवक्षितवाच्य और २. अविवक्षित-अन्यपरवाच्य नामक मुख्य दो भेद करता है और बाद में इनके भी, आनन्दवर्द्धन का अनुसरण कर, दो-दो प्रभेद दर्शाता है। बाद में आनन्दवर्द्धन की कारिका के ही शब्दों में ४२वें सूत्र में यह बताता है कि असंलक्ष्याक्रमव्यंग्य में किस-किस का समावेश होता है :

रसभावतदाभासभावशान्तयादिरक्रमः

अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि का समावेश अक्रम में होता है। इसके बाद वह रस को स्पष्ट करता है और बाद में भाव को स्पष्ट करता है और तत्पश्चात् ४९वें सूत्र में रसाभास और भावाभास को स्पष्ट करता है। वह इस प्रकार है :

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

यहाँ 'तदाभासा' अर्थात् रसाभास और भावाभास। अर्थात् अनौचित्य से प्रवर्तित होने पर रस रसाभास और भाव भावाभास होंगे।

अभिनव गुप्त का कथन है कि विभाव के आभास से रसाभास और भावाभास जन्म लेते हैं, उसके स्थान पर यहाँ यह कहा गया है कि अनौचित्य से प्रवर्तित होने पर रसाभास और भावाभास जन्म लेते हैं। इसको व्याख्या के बाद में आने वाले हेमचन्द्र ने आंशिक रूप में और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया है।

इस व्याख्या में महत्त्वपूर्ण शब्द है अनौचित्य। काव्यप्रकाश की उद्योत टीका में लिखा है :

अनौचित्यं च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् यत्र तेषाम् अनुचितमितिधीः।

अनौचित्य किस प्रकार जाना जाय?—सहृदय के व्यवहार से। जहाँ उसे प्रतीत हो कि यहाँ अनौचित्य है, वहाँ अनौचित्य मान लिया जाय। इसी बात को वामनाचार्य ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

अनौचित्यं हि शास्त्रलोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादिरूपं सामाजिकवेद्यम्।

अर्थात् शास्त्र और लोक का अतिक्रमण करके प्रतिषिद्ध विषय के प्रति हुआ कोई भाव का निरूपण जब सामाजिक को अनुचित लगता है तब उसे अनौचित्य कहा जाएगा।

काव्यप्रकाश की काव्यादर्श-संकेत टीका में कहा गया है कि अन्योन्यानुरागाद्य-भावेनानौचित्यम्। अर्थात् अन्योन्य अनुराग के अभावादि के कारण अनौचित्य जन्म लेता है। इस प्रकार वह अभिनव गुप्त के आशय को ही इसमें से भी फलित करता है। मम्मट ने रसाभास का एक और भावाभास का एक, इस प्रकार दो ही उदाहरण दिए हैं।

प्रथम उदाहरण में अनेक कामुक विषयक अभिलाषाएँ हैं और बलात् आलिंगन करने का वर्णन है, अतः शास्त्र और लोक का अतिक्रमण होने के कारण रसाभास प्रतीत होता है। दूसरे उदाहरण में रावण का सीता के प्रति चिन्तारूपी व्यभिचारी भाव मुख्यतः व्यक्त हुआ है। यहाँ टीकाकार कहता है कि इस मामले में अनौचित्य इसलिए है कि पहले स्त्री का अनुराग बताना चाहिए और उसके बाद उसके इंगित पर पुरुष का। यहाँ इससे विपरीत ही है अर्थात् स्त्री के अनुराग-वर्णन के पूर्व ही पुरुष का अनुराग-वर्णन कर दिया गया है। इसका अर्थ हुआ अनुरागहीन स्त्री के प्रति अनुराग-वर्णन, परिणामतः अनौचित्य का प्रवेश हुआ है। व्यभिचारी मुख्यतः व्यंग्य होने के कारण जिस भाव की प्रतीति होनी चाहिए उसके स्थान पर भावाभास की होती है। यहाँ अनुभयनिष्ठरति होने के कारण भावाभास है, हम यह भी कह सकते हैं।

इसकी चर्चा

यहाँ शुद्ध काव्य-दृष्टि नहीं पर लौकिक आचार के मानदण्ड भी काव्य-विचार में प्रवेश करते हुए दिखायी देते हैं। अभिनव गुप्त ने तो केवल काव्य की दृष्टि से ही रसाभास का निरूपण किया था : यदि विभाव वास्तविक सत्य न हों, केवल आभास-रूप हों, तो अनुभाव भी आभासरूप ही होंगे और अन्ततः जो चर्वणा होगी वह भी वास्तविक चर्वणा न होकर चर्वणाभास ही होगा और इस प्रकार वहाँ रस की नहीं, पर रसाभास की प्रतीति होगी।

मम्मट ने जो उदाहरण दिए हैं उन दोनों में हम देखते हैं कि बहुनायकविषया रति में रति के उत्कर्ष के लिए जिस प्रकार के विभाव की आवश्यकता है वैसा न होने

के कारण वह विभावाभास है और अनुभयनिष्ठ रति में उत्कर्ष के अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं होतीं, अतः वहाँ भी विभावाभास है और परिणामतः जो प्रतीति होती है वह रस या भाव की नहीं पर उसके आभास की होती है। इस प्रकार मम्मट द्वारा प्रस्तुत दोनों उदाहरणों को हम केवल काव्य-दृष्टि से ही समझा सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि इसमें लोकाचार की दृष्टि से उचित-अनुचित का बाह्य विचार समाविष्ट नहीं है।

अनौचित्य की गणना

अब हम लोग आगे बढ़ें। टीकाकार अनौचित्य की गणना करते समय इसके अतिरिक्त वस्तुओं को भी गिनाते हैं जिन्हें हमें देखना चाहिए।

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
आभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयतायाम्।

उपनायक यानी जारगत, मुनिगुरुपत्नीगत, बहुनायकविषया और अनुभयनिष्ठ तथा तिर्यगादिविषया रति जहाँ होती है वहाँ आभास दिखायी देता है।

इसी प्रकार दूसरे रसों में भी अनौचित्य को समझने की बात कह कर इस मामले में भी थोड़ा-बहुत दिशा-निर्देश किया गया है, वह इस प्रकार है :

गुरु आदि को लेकर हास, वीतरागादि को लेकर करुण, माँ-बाप आदि को लेकर रौद्र व वीर, वीर को लेकर भयानक, यज्ञ-पशु के रक्त-मांस-चरबी को लेकर बीभत्स, ऐन्द्रजालिक आदि को लेकर अद्भुत और चाण्डालादि को लेकर शान्त रस का निरूपण होने से आभास माना जाता है।

अनौचित्य के जगन्नाथ द्वारा स्वीकृत तीन प्रकार

विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में यह सूची इससे भी अधिक लम्बी है। जगन्नाथ[1] ने रति के मामले में तीन ही प्रकार के अनौचित्य स्वीकार किए हैं जो इस प्रकार हैं :

१. अनुचित विभाव के होने पर
२. स्त्री की बहुविषयक रति होने पर
३. अनुभयनिष्ठ रति होने पर

इसमें प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप में जो श्लोक दिया गया है उसमें राजा का कोई नौकर अनेक कष्ट सहन कर रानी के शयनागार में प्रवेश करता है। वहाँ सुधाफेनधवल पुष्प के बिछौने पर रानी को सोता हुआ देखकर उसे

१. इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति।—पृ० ९९। पुरुष को अनेक स्त्रियाँ रखने की छूट थी, अतः यहाँ बहुविषयक रति का उल्लेख केवल स्त्रियों के विषय में ही किया गया है।

जगाता है और चकितनयना स्मरमुखी तरुणी का प्रबल श्वासोच्छ्वासपूर्वक आलिंगन करता है।[१]

यहाँ रानी नौकर के लिए अगम्या है,[२] इसलिए कहा गया है कि यह अनुचित विभाव है।

अनौचित्य-विचार

अनौचित्य के इन सभी उदाहरणों को देखने पर यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि इन सब की पृष्ठभूमि में सामाजिक लोकाचार अथवा प्राचीन परिभाषा का प्रयोग करें तो शास्त्र और लोक एक मुख्य बल है। इस पर भी मैं आपसे इस विषय पर इस प्रकार विचार करने की विनती करता हूँ : लोगों में जिस-तिस काल और जिस-तिस स्थल में जो आचार सर्वसम्मति से सम्पूर्ण समाज में प्रतिष्ठित हो गया है, उसका प्रभाव उस समय के तथा देश के सहृदयों के चित्त पर होता भी है या नहीं? अगर होता है तो इस प्रकार के संस्कार वाले सहृदय को अपने इन संस्कारों के विरुद्ध हुआ निरूपण अनुचित लगता है या नहीं? केवल तात्विक दृष्टि से तो शृंगार का निरूपण किसी भी एक स्त्री और किसी भी एक पुरुष को आलम्बन मान कर किया जा सकता है, पर पिता-पुत्री के बीच का शृंगार सहृदय को अनुचित तो लगेगा ही।

इस पर भी, यह उचितानुचित सम्बन्धी धारणा एक ही समय में अलग-अलग देशों में अथवा समाज में भिन्न-भिन्न हो सकती है अथवा अलग-अलग समयों में एक ही देश अथवा समाज में भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसे स्वीकारने पर भी काव्य को लेकर औचित्य-अनौचित्य का विचार करना ही पड़ता है, इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। अगर इतनी बात स्वीकार कर लें तो यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि प्राचीन शास्त्रकारों ने यह वस्तु उदारतम रूप में, अर्थात् त्रिकालाबाधित रूप में प्रस्तुत की है। उन्होंने इतना ही कहा है कि जहाँ रस अथवा भाव अनुचित रूप से प्रवर्तित हुआ है वहाँ रसाभास अथवा भावाभास की प्रतीति होती है और इसका निर्णय भी सहृदय ही करता है। अर्थात् एक ही काव्य में भिन्न-भिन्न संस्कार वाले सहृदयों में से किसी को रस की, तो किसी को रसाभास की प्रतीति होगी। यहाँ हमें इतना याद रखना चाहिए कि रस और रसाभास के कारण काव्य में उच्चावचता नहीं आती। जहाँ रस प्रतीत होता है और जहाँ रसाभास प्रतीत होता है—ये दोनों ही उत्तम काव्य

---

१. शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरम्।
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामांगीं चकितनयनां स्मेरवदनाम्
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम्॥

२. शृंगारतिलक के अनुसार अगम्य स्त्रियों की सूची :
संबंधिमित्रद्विजराजहीनवर्णाधिकानां प्रमदा न गम्याः।
व्यंग्यस्तथा प्रव्रजिता विभिन्नमंत्राश्चधर्मार्थमनोभवज्ञैः॥

माने जायेंगे। कारण कि चर्वणा तो दोनों में ही होती है, मात्र रसाभास के बारे में चर्वणा के बाद कुछ अनौचित्य लगता है जिससे वह इस अनुभव को रसाभास कहता है। इस सम्बन्ध में वामनाचार्य के वचन खूब द्योतक हैं। वह लिखता है :

रसानौचित्यस्य रसावगमोत्तरमेव अवगमात् आभासताप्रयोजकता एव।

रस के अनौचित्य का बोध रसावगमन के बाद ही होने के कारण अनौचित्य की वजह से आभास है, हम इतना भर कहते ही हैं अन्यथा यह अनौचित्य वाच्यवाचक के अनौचित्य की भाँति रस-भंग का कारण नहीं बनता।

न वाच्यवाचकानौच्यिवत् रसभंगहेतुता इति बोध्यम्।—पृ० १२२-३

हेमचन्द्र का निरूपण

किन्तु मैं थोड़ा आगे निकल गया था। मम्मट के बाद हेमचन्द्र आता है। उसने रसाभास आदि की व्याख्या तनिक अलग ही की है और अलग-अलग दो सूत्रों में इसका निरूपण किया है। वह ८०वें सूत्र में कहता है :

निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपात् रसाभावाभासौ। ५४।

अर्थात् निरिन्द्रियों में अथवा वृक्ष, लता, मेघ, विद्युत, नदी, सागर, चन्द्र, रात्रि आदि में और तिर्यगादि में भाव का आरोप करने से रसाभास और भावाभास जन्म लेते हैं। इसके उदाहरण हैं :

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनीभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्टमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥

यहाँ लता और वृक्षों में सम्भोग का आरोपण है।

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकंडूयत कृष्णसारः॥

यहाँ मृग-मृगी और भ्रमर-भ्रमरी में सम्भोग का आरोपण है।

हेमचन्द्र की यह व्याख्या हमें रस्किन की असत्य भावारोपण की याद दिलाती है। जिनमें मानव-भाव सम्भव नहीं है उनमें इनका आरोपण करना मात्र आभास ही है और इसलिए यहाँ वृक्ष-लता और भ्रमर-भ्रमरी में कल्पित या आरोपित सम्भोग को सम्भोगाभास कहा गया है। पर, इस मत का जो विरोध हुआ था, उसकी चर्चा आगे आयेगी।

तदुपरान्त ८१वें सूत्र में वह कहता है : अनौचित्याच्च। ५५। अनौचित्य से भी आभास जन्म लेता है और वृत्ति में इसकी स्पष्टता करता हुआ कहता है :

अन्योन्यानुरागाद्यभावेन अनौचित्यात् रसभावाभासौ।

अर्थात् अन्योन्य अनुरागादि के अभाव के कारण प्रविष्ट अनौचित्य से रसाभास,

भावाभास प्रतीत होता है। इसके बाद उसने रावण की सीता के प्रति रति का और अनेक कामुकविषय अभिलाषा का—इस प्रकार उपर्युक्त दो उदाहरण दिए हैं।

यहाँ एक भेद समझ लेना आवश्यक है। हेमचन्द्र ने तिर्यगों की रति को जो आभास कहा है उसमें और उपर्युक्त सूची में वर्णित तिर्यगादिविषया रति को जो आभास कहा है उसमें एकत्व नहीं है। इस सूची में तिर्यगादि में तिर्यग, मलेच्छ, हीन पात्र आदि समाविष्ट हैं। इसलिए वहाँ अर्थ इस प्रकार होता है कि किसी आर्य स्त्री की मलेच्छ के प्रति अथवा किसी उत्तम स्त्री की हीन पात्र के प्रति रति अनुचित विभाव के कारण आभास मानी जायेगी। किसी मलेच्छ स्त्री की मलेच्छ पुरुष के प्रति रति में कुछ भी अनौचित्य नहीं है; किसी भील-स्त्री की किसी भील के प्रति रति में कुछ भी अनौचित्य नहीं है। अर्थात् इन सभी स्थलों पर उच्च पात्र की नीच विषया, मलेच्छ-विषया, तिर्यग्विषया रति ही अर्थ लिया जाना चाहिए और कपोत-कपोती या चक्रवाक-चकवी का शृंगार अनुचित नहीं मानना चाहिए। मम्मट ने स्वयं 'काव्य-प्रकाश' में तिर्यगादि पर आधृत भयानक रस को निरूपित करने वाला दृष्टान्त दिया है: 'ग्रीवाभंगाभिरामम्०' और तिर्यग्विषयक विप्रलम्भ का भी उदाहरण दिया है: 'मित्रे क्वापि गते०।' पर, इस दृष्टि से शकुन्तला का वृक्षलता अथवा हरिणों के प्रति प्रेम आभास ही माना जाएगा।

विश्वनाथ का मत

हेमचन्द्र के पश्चात् 'साहित्यदर्पणकार' विश्वनाथ को देखें। उसने रसाभास की व्याख्या मम्मट की भाँति ही दी है:

अनौचित्यप्रवृतत्त्व आभासो रसभावयोः।

और फिर लोकशास्त्रादि विरुद्धत्व के रूप में ही अनौचित्य का अर्थ देता है। इस पर भी चर्चा के अन्त में वह यह निष्कर्ष निकालता है कि 'अनुचितविभावालंबनंरसाभास-त्वम्। अनुचितविषयत्वं भावाभासत्वम्।' अर्थात् अनुचित विभाव पर आधृत जहाँ रसनिष्पत्ति होती हो वहाँ रसाभास और अनुचित विषय में जहाँ भावनिष्पत्ति होती हो वहाँ भावाभास होता है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने ऊपर जो तिर्यगादिविषया रति का अर्थ दिया है उसे 'साहित्य-दर्पण' की टीका में दिए गए शृंगार रस सम्बन्धी निम्न वचनों से समर्थन मिलता है:

तद्वत् अनुरागे अधमपात्रे असत्कुलजातकिरातादिनी च नायके तथा तिर्यगादौ मनुजेतरजन्तुषु तापसादौ च गते विद्यमाने सति शृंगारे अनौचित्यम्, तेषाम् नायक-लक्षणाभावेन अनुरागतत्त्वज्ञानासमर्थत्वात्।

यहाँ ये सब पात्र नायक के लक्षणधारक नहीं हैं, इस प्रकार कहा गया है और यह भी बताया गया है कि इसके मूल में अनुराग तत्त्व के समर्थन का अभाव है।

विश्वनाथ के अनुसार अनौचित्य अर्थात् अयोग्यता जो धर्मशास्त्र के विरोध से, असम्भव से तथा तत्त्वज्ञान के असमर्थन से आती है। यहाँ नायक के लक्षण जानना उपयोगी होगा। 'साहित्यदर्पण' में नायक के लक्षण इस प्रकार हैं :

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥३०॥

त्यागी, कृती, कुलीन, श्रीमान, रूप-यौवन व उत्साह सम्पन्न, दक्ष, लोकप्रिय, तेज, वैदग्ध्य और शील वाला नेता अर्थात् नायक होता है। नायिका में भी यथासम्भव नायक के लक्षण होने चाहिए।

नायकसामान्गुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥५६॥

सुधासागर का निरूपण

रसाभास का सर्वाधिक सुन्दर विवरण मुझे काव्यप्रकाश की टीका 'सुधासागर' का लगा है। उसे मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ :

अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिना रूपेण इत्यर्थः। अनौचित्य से अर्थात् प्रकर्ष-विरोधी रूप में ह तच्च एकाश्रयत्वे तिर्यगादि विषयतायां बहुविषयत्वे व्यभिचारिणाम् आभासाङ्गतायां वा द्रष्टव्यं इति प्रदीपकाराः। एकाश्रयत्व, तिर्यगादिविषयता, बहुविषयता और व्यभिचारी जब आभास का अंग बन जाते हैं तब उसके कारण यह अनौचित्य उत्पन्न होता है। प्रदीपकार का मत इस प्रकार का है। यह परिगणन सम्प्रदाय का अनुसरण मात्र है। 'इदं च परिगणनं सम्प्रदायानुसरणमात्रम्।' कारण कि इसका 'कण्टाभरण' में दी गयी अनौचित्य की सूची के साथ विसंवाद है। वहाँ इस प्रकार कहा गया है कि जहाँ हीन पात्र, तिर्यग, नायक प्रतियोगी और गौण पदार्थगत भावनिरूपण होता है तो आभास माना जाता है। (बाद में वह कहता है :) वस्तुतस्तु अनौचित्यमात्रमेव अमीषां मनसाभासताप्रयोजकम्। वस्तुतः इन सबके बारे में आभास शब्द का जो व्यवहार करते हैं उसका कारण अनौचित्य मात्र ही है। तिर्यगाद्यो तु अनौचित्याभावात् रस एव। तिर्यगादि में तो अनौचित्य के अभाव होने के कारण रस ही प्रतीत होता है—न तदाभासः। उसका आभास नहीं। अतएव वृत्तिकारों 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इत्यादौ (८५ उदाहरण) तिर्यग्विषयतया भयानकं, 'मित्रे क्वापि गते' इत्यादि (३४४ उदाहरण) तिर्यग्विषयतया विप्रलंभं च उदाजहार। इसलिए ही वृत्तिकार ने 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' आदि में तिर्यग्विषयक भयानक रस का और 'मित्रे क्वापि गते' आदि में तिर्यग्विषयक विप्रलम्भ का उदाहरण दिया है। इसलिए दूसरी जगह अनेककामुकविषया रति से आभास प्रतीत होने पर भी पाण्डवों के विषय में द्रौपदी की रति इस प्रकार की नहीं है। स्वकान्ता को लेकर भी शोकादि अवस्था में रति-वर्णन अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण आभासरूप ही समझना चाहिए। (आने वाला वाक्य महत्त्वपूर्ण है)

यद्यपि काव्यनाट्यश्रवणदर्शनाभ्यां विभावादिसाधारण्यज्ञाने सति सामाजिकानां स्वीयस्थायिव्यक्तिरित्यलौकिकरसः स्वतोः नाभासः ।–पृ० १२१-२

यद्यपि काव्य-नाटक के श्रवण-दर्शन से विभावादि साधारणीकृत होने पर सामाजिकों के अपने स्थायी की अभिव्यक्ति होती है, अतः यह अलौकिक रस स्वयं आभास नहीं होता । तथापि असाधारण्यप्रतीतिप्रयोजककाव्यवर्णिते यत्र च अनौचित्यप्रतिसंधानं तत्र व्यंग्ये रसेऽप्याभासव्यवहार इति ध्येयम् । तो भी असाधारण की प्रतीति का प्रयोजक जो काव्य-वर्णित अर्थात् काव्य में वर्णित की गयी वस्तु में जब अनौचित्य प्रविष्ट करता है तब व्यंग्य रस भी आभास ही कहा गया मानना चाहिए ।

वामनाचार्य भी यही बात कहता है :

नन्वेतावता लौकिकस्याभासत्वमागतं न तु सामाजिकनिष्ठस्यालौकिकस्येति चेन्न साधारणीकरणोपायेन सामाजिकस्य वर्णनीयतन्मयीभावात्सामाजिकनिष्ठरतेरप्याभासत्वमितीति ।–पृ० १२३

आप कहते हैं उससे तो लौकिक का अनौचित्य समझ में आता है, पर सामाजिकनिष्ठ अलौकिक का नहीं । इस प्रकार अगर कोई कहता है तो ठीक नहीं है । कारण कि साधारणीकरण के उपाय से सामाजिक वर्णनीय में तन्मय हो जाने के कारण उसमें निहित रति को भी आभासता प्राप्त हो जाती है ।

जगन्नाथ का मत

इससे एक वस्तु तो स्पष्ट हो गयी होगी कि जिसे रसाभास कहा जाता है उसका अनुभव रसानुभव ही है, पर इस अनुभव के बाद इसकी वस्तु में अनौचित्य लगता है, अतः इसे रस न कह कर रसाभास नाम दिया गया है ।

इसी बात पर विचार करते हुए 'रसगंगाधर' में पण्डित जगन्नाथ कहते हैं :

'रसाभास और भावाभास' ये रस और भाव ही हैं या भिन्न हैं ? कुछ कहते हैं कि भिन्न हैं क्योंकि दोनों समानाधिकरण नहीं हैं अर्थात् एक स्थान पर रहने वाले धर्म नहीं हैं । जो निर्मित होता है, किसी भी प्रकार के अनौचित्य से रहित होता है वह रस अथवा भाव है पर जब उसमें अनौचित्य प्रविष्ट करता है तो उसे रसाभास अथवा भावाभास कहना चाहिए । दूसरे कहते हैं कि रस में दोष के प्रवेश करने से आत्महानि नहीं होती अर्थात् उसके स्वरूप का नाश नहीं होता, वह रस मिट नहीं जाता । अर्थात् जिस प्रकार निर्दुष्ट स्थायिभाव–दोषरहित स्थायिभाव रस कहलाता है उसी प्रकार सदोष स्थायिभाव भी रस माना जाएगा । मात्र उसमें निहित दोष को संकेतित करने के लिए उसे आभास कहते हैं । जिस प्रकार सदोष अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं पर रहता तो वह अश्व ही है ।

रसाभास की धारणा का विकास

हमारी अब तक की चर्चा के आधार पर रसाभास की धारणा किस प्रकार विकसित होती गयी उसका एक संक्षिप्त विवरण हमें देख जाना चाहिए ।

हमने देखा कि अभिनव गुप्त ने मात्र विभावाभास के होने पर ही रसाभास माना है और उसका उदाहरण अनुभयनिष्ठ रति से दिया है। रावण की सीता के प्रति रति, सीता परस्त्री है इसलिए अनुचित है यह बात नहीं है, पर चूँकि यह अनुभयनिष्ठ है इसलिए अनुचित है।

मम्मट ने अनुभयनिष्ठ रति के अतिरिक्त बहुकामुकविषया रति को भी रसाभास में लेकर रसाभास की व्याख्या में अनौचित्य शब्द का प्रयोग किया। हेमचन्द्र ने निरिन्द्रिय और तिर्यगादिगत रति का समावेश किया और अनौचित्य प्रवर्तित व्याख्या को भी बनाए रखा। विश्वनाथ ने अनौचित्य प्रवर्तित वाली व्याख्या को स्वीकार कर उसके दृष्टान्तों में अच्छी-खासी वृद्धि की।

'उपनायकगत, मुनिगुरुपत्नीगत, बहुनायकविषया, अनुभयनिष्ठा, प्रतिनायक-निष्ठा, अधमपात्रगता और तिर्यगादिगता रति, गुरुआदिगत रौद्र कोप और हास्य, हीननिष्ठ शान्त, ब्रह्मवधादिमें निष्ठा उत्साह, अधमपात्रगत वीर, उत्तमपात्रगत भयानक यज्ञ-पशु के रक्तादि में जुगुप्सा।'

अनौचित्य के दो प्रकार

आभासत्वप्रयोजक अनौचित्य दो प्रकार का मालूम होता है : एक तो मनोगत और दूसरा लोकशास्त्रगत। अनुभयनिष्ठ और बहुनायकविषया रति का अनौचित्य मनोगत कहा जाएगा। इसी प्रकार निरिन्द्रियों में हुआ भावारोपण भी मनोगत अनौचित्य में समाविष्ट होगा। तिर्यचों में मानव भाव नहीं होते, यह मान कर तिर्यगादिगत रति को भी इसमें समाया जा सकता है। तिर्यचों और हीन पात्रों के प्रति रति पर हम आलम्बन के अनौचित्य की दृष्टि से विचार कर सकते हैं, जिसे अभिनव गुप्त ने विभावाभास कहा है। तिर्यच मनुष्य के प्रेम का मनुष्य की भाँति उत्तर नहीं दे सकते, अतः उनमें प्रेम का जिस प्रकार का परिपाक होना चाहिए वैसा होने की संभावना नहीं होती, इसलिए यह रति परिपुष्टता के अभाव में आभासता को प्राप्त करती है। हीन पात्र भी प्रेम की परिपुष्टता में पूरा साथ नहीं दे सकते, यह मानना बिल्कुल निरर्थक न होगा। आलम्बन विभाव होने के लिए अर्थात् नायक बनने के लिए यहाँ अमुक संस्कारादि की अपेक्षा अभिप्रेत है।—मुझे ऐसा लगता है और यह मनोविज्ञान की दृष्टि से उपेक्षा करने लायक नहीं है। पर, इसके अलावा सभी उदाहरणों को शास्त्र-लोकातिक्रम के कारण होने वाले अनौचित्य के उदाहरण मानने होंगे।

अनौचित्य की जगन्नाथ द्वारा की गयी चर्चा

इस अनौचित्य की जो चर्चा जगन्नाथ ने रसगंगाधर में की है, यहाँ दर्शनीय है। वह कहता है कि जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ रसाभास कहलाता है। आलम्बन विभाव का अनौचित्य लौकिक व्यवहार से समझना चाहिए। अर्थात् जिसके विषय में लोगों को अनुचित होने का बोध होता हो, कुछ के अनुसार उसे अनुचित मान लेना चाहिए।

पर, रसाभास के इस लक्षण को दूसरे नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि यद्यपि इस लक्षण में मुनिगुरुपत्नी आदि से सम्बद्ध रति का समावेश होता है फिर भी अनेक नायकनिष्ठ रति का अथवा अनुभयनिष्ठ रति का समावेश नहीं होता। कारण, वहाँ विभाव अनुचित नहीं है। अतः रसभास के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण विभाव के लिए न लगा कर रति आदि स्थायिभाव के लिए लगाना चाहिए। अर्थात् लक्षण इस प्रकार बनाना चाहिए कि जिसके रति आदि स्थायीभोव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों वे रसाभास कहे जायेंगे। इस प्रकार तो सभी का समावेश हो जाता है। यद्यपि इस मत में भी अनौचित्य की परिभाषा तो पहले की भाँति ही रहती है—अर्थात् जिस रति को लोक अनुचित माने उसे अनुचित रूप में प्रवृत्त रति कहा जाएगा।

वस्तुतः ये दो मत हैं : एक अभिनव गुप्त का और दूसरा परवर्ती मम्मट आदि का। जिन्होंने 'अनौचित्यप्रवर्तितः' ऐसी व्याख्या का उपयोग किया।

जगन्नाथ द्वारा स्वीकृत अनौचित्य के तीन प्रकार

जगन्नाथ ने अनौचित्य के तीन प्रकार स्वीकृत किए हैं :

१. जहाँ अनुचित विभाव हो,
२. जहाँ बहुविषयक रति हो,
३. जहाँ अनुभयनिष्ठ रति हो,

और इन तीन के ही उसने उदाहरण दिए हैं।

इसमें उसने मम्मट और अभिनव गुप्त द्वारा स्वीकृत दोनों प्रकार मान लिए हैं और मद्यावधि में प्रचारित तिर्यगादि के अलावा सभी प्रकारों को अनुचित विभाव में समाविष्ट कर दिया है। पर, अभिनव गुप्त ने जिसे अनुचित विभाव अथवा विभावाभास कहा था उससे भिन्न ही वस्तु को अनुचित विभाव कहता है जो सभी के ध्यान में आया होगा। अभिनव गुप्त ने अनुभयनिष्ठ रति के विभाव को ही विभावाभास कहा था पर जगन्नाथ ने शास्त्रलोक जिसे अनुचित माने उसे अनुचित विभाव कहा है और अभिनव के अनुचित विभाव को अनुभयनिष्ठ रूप में ही स्वीकारा है।

चर्चा का सार

अब तक की अपनी चर्चा का निष्कर्ष हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

ध्वनिरूप उत्तम काव्य के तीन भेद हैं : वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसध्वनि, रसाभास रसादिध्वनि का ही एक प्रकार है। इसका विभाव अनुचित; अतः आभासरूप होने के कारण इसकी चर्वणा, अभिनव के अनुसार, चर्वणाभास है और अन्य आचार्य इसकी चर्वणा को रसचर्वणा ही मानते हैं पर चूँकि सहृदय को इसमें अनौचित्य का अनुभव होता है, अतः इस सीमा तक ही उसे आभास जैसा नाम दिया गया है। जिस अनौचित्य के कारण इसे आभास नाम दिया गया है वह, कुछ अंशों में काव्य और कुछ अंशों में लोकाचार की दृष्टि से प्रतीत अनौचित्य ही है। साथ ही, यह

भी नहीं माना गया कि इसके कारण रस-प्रतीति में बाधा या विलम्ब होता है। इसी-लिए इसकी गणना काव्य-दोष में नहीं की गयी। इसकी प्रतीति रसावगम के बाद ही होती है, यह भी मान लिया गया है और काव्य में इसके निरूपण का निषेध नहीं किया गया है।

रसाभास के विषय में श्री विष्णुप्रसाद

अब हम श्री विष्णुभाई आदि द्वारा की गयी रसाभास की चर्चा पर आते हैं। श्री विष्णुभाई ने 'रसना सिद्धान्तमां सापेक्षता' नामक लेख में इस सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा की है। शृंगार रस के बारे में ही जिन-जिन सम्बन्धों को अनुचित मान लिया है उसकी सूची देते हुए वे कहते हैं—"इस एक ही विषय में कला-प्रदेश कितना संकुचित हो गया! रसाभास की कल्पना से मनुष्य के स्वभाव के यथातथ्य चित्रण की अवगणना हुई है, इतना ही नहीं पर अनुभाव (रेसपोन्स) [प्रतिभाव कहा होता तो गड़बड़ तो न हुई होती। न.] प्राप्त न करती हुई रति, जिसमें भाव-मंथन का हृदय-स्पर्शी प्रसंग आता है, कवि छोड़ देता दिखायी देता है।"

यहाँ श्री विष्णुभाई ने यह मान लिया प्रतीत होता है कि प्राचीन शास्त्रकारों ने रसाभास के निरूपण का निषेध किया है। पर, यह जानकारी का दोष है। उन्होंने श्री दे के 'अलंकारशास्त्र के इतिहास' के आधार पर पाद-टिप्पणी में लिखा है कि 'अकेले जगन्नाथ पण्डित अनौचित्य से प्रवर्तित रस में या रसाभास में दोष नहीं देखते।' दूसरे आलंकारिकों के प्रति अन्याय करने वाले इस प्रकार के वचन भी जानकारी के अभाव के कारण ही कहे गये हैं।

वे आगे लिखते हैं :

'गुरु आदि के प्रति रति या हास को रसाभास के रूप में स्वीकृत करने में उच्च नीति की धारणा को कला में खींच लाया गया है, तो समाज के निम्नस्तरीय पात्रों में, वर्णित शम या उत्साह को रसाभास मानने में अपने धर्म की अस्पृश्यता के रोग की छूत कला को लगा दी गयी है।' आदि।

श्री विष्णुप्रसाद के मत की समीक्षा

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, यह परिगणना परम्परानुसरण है; सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त इतना ही है कि सहृदय को जहाँ रसानुभव के बाद यह लगे कि अनौचित्य है वहाँ आभास मान लेना चाहिए। जिस देश में वैष्णव धर्म इतना अधिक प्रसृत हो वहाँ यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि निम्नस्तरीय लोगों पर आधार रख कर शम का निरूपण न किया जाय? भक्ति-सम्प्रदाय, जैन-सम्प्रदाय तथा बौद्ध-सम्प्रदाय ने शताब्दियों तक निचले तबके के लोगों को अपनाने का महान काम किया है। इनके भिक्षुओं, साधुओं और भक्तों में से कितने ही निचले तबके से आये हैं और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें अपने देश के साहित्य में स्थान नहीं

मिला है ? ये सभी दृष्टान्त तत्कालीन प्रचलित लोकशास्त्र के आधार पर दिए गये हैं, पर उनकी उपेक्षा भी समय समय पर हुई है और होनी भी चाहिए। जो एक समय अनुचित माना जाता है वह दूसरे समय उचित माना जाएगा। तिस पर भी अनौचित्य का यह नियम अबाधित ही रहेगा। अपने समाज की बात करें तो पहले कभी जब साहित्य में विधवा की रति का वर्णन किया जाता था तो अत्यन्त ऊहापोह मच जाता था। उस जमाने में यह अनुचित था। आज यह अनुचित नहीं है। एक समय अपने यहाँ अन्तर्जातीय विवाह की भी यही स्थिति थी, आज यह भी नहीं रही है। परन्तु इससे कहीं मूल नियम नहीं बदल जाता। समय-समय और स्थान-स्थान पर औचित्य-अनौचित्य की धारणा बदलती रहती है, पर प्रत्येक युग अपनी इन धारणाओं का अनुवर्तन करता ही है। प्रत्येक युग में औचित्य-अनौचित्य का भेद तो होता ही है।

रसाभास के बारे में श्री ज्योतीन्द्र दवे

श्री ज्योतीन्द्र दवे की धारणा कुछ विष्णुप्रसाद की धारणा के समान ही है। उन्होंने अपनी 'रसमीमांसानी परिभाषा' नामक लेख में लिखा है :

"ऐसा प्रतीत होता है कि किसे रस माना जाय और किसे रसाभास माना जाय ? इसका निर्णय भी शास्त्र की शुद्ध दृष्टि से न होकर सामाजिक नीति-भावना अथवा तत्कालीन कविसमय के आधार पर किया गया है। पशु-पक्षी की रति रस नहीं, पर रसाभास में परिणत होती है, यह जो कहा गया है वह मात्र रति तक ही सीमित नहीं है पर सभी भावों पर लागू पड़ता है; इसे यदि मान लें तो इस नियम में बहुत से अपवाद करने पड़ेंगे।" तदुपरान्त वह प्राणियों के भावों का निरूपण करने वाली कितनी ही कृतियों का उल्लेख करता हुआ कहता है कि 'इन सबके लिए अगर रसाभास का नियम निरपवाद रूप से मान्य रखें, तो इन्हें साहित्य के प्रदेश से देश-निकाला देना पड़ेगा।'

हम जिस प्रकार देख आये हैं, तिर्यगादि के भाव के निरूपण को, प्राचीन आलंकारिकों में से कुछ रस के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इससे पहले मैंने 'सुधासागरकार' के वचनों को उद्धृत किया था। जगन्नाथ में भी तिर्यगादि की रति का अनुचित रूप में उल्लेख नहीं है। पर सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि ऐसे भाव-निरूपण को रसाभास या भावाभास नाम देकर भी उसकी आस्वाद्यता को किसी ने नकारा नहीं है और किसी ने भी इसके निरूपण का निषेध नहीं किया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उनकी उक्त आपत्ति और साहित्य-क्षेत्र के संकुचित हो जाने की भीति—दोनों ही अपूर्ण जानकारी के कारण उदित हुई हैं।

रसाभास के बारे में श्री डोलरराय मांकड

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के गुजराती विभाग के अतिथि अध्यापक के रूप में दिए गये व्याख्यानों में से पहले व्याख्यान 'रसाभासनुं स्वरूप' में डोलरराय मांकड ने इस विषय की चर्चा की है। इस लेख में उनका नीति-अनीति से सम्बद्ध

आग्रह इतना प्रबल है कि उसके कारण बहुत-सी चीजें गड़बड़ा गयी हैं। हम प्रत्येक मुद्दे पर क्रमशः विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि अर्थात् उत्तम काव्य के दृष्टान्त के रूप में जिस श्लोक को उद्धृत किया था उसे प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं : यह ठीक है कि इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ मुख्य है, पर इतने भर से किसी काव्य को उत्तम कह देना पर्याप्त-स्तरीय नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में ऐसे स्पष्ट असभ्य अर्थवाले बहुत से उदाहरण मिलते रहते हैं। उनके मत में इसका कारण यह है कि रसाभास के विषय को हमारे काव्यशास्त्र में यथोचित महत्त्व नहीं दिया गया है। तदुपरान्त वे मम्मट की रसाभासवाली व्याख्या देकर और समझाकर यह कहते हैं कि उक्त श्लोक रस का नहीं, पर रसाभास का दृष्टान्त है। बाद में वे अभिनव गुप्त के आधार पर रसाभास का स्वरूप स्पष्ट करते हैं और इस बात पर भार देते हैं कि जहाँ विभाव अनुचित अर्थात् आभासी होता है वहाँ चर्वणाभास और रसाभास होते हैं।

इसके अनन्तर उन्होंने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत से दशम कारिका और तत्सम्बन्धी वृत्ति को उद्धृत कर जो यह कहा है कि प्रकृति-सम्बन्धी अनौचित्य काव्य में निरूपित नहीं होना चाहिए, उसमें प्रकृति अर्थात् आलम्बन विभाव जैसा समीकरण बना कर प्रकृति विषयक जो कुछ कहा है उस सबको आलम्बन पर लागू करने का प्रयत्न किया गया है, वह सब गलत रास्ते पर ले जाने वाला है। तीसरे उद्योत में इस स्थान पर दोष-परिहार की बात चलती है और वहाँ आनन्दवर्द्धन कहता है कि प्रकृति-विपर्यास नहीं करना चाहिए। इसी बात को आनन्दवर्द्धन के आधार पर मम्मट और हेमचन्द्र ने अपने-अपने ग्रन्थों में लगभग इन्हीं शब्दों में रसदोषवाले प्रकरण में लिया है। दशम कारिका में वह इस प्रकार है :

विभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य...

भावार्थ : विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी के औचित्य से चारुतायुक्त कथा-शरीर का विधान करना चाहिए। इस पर लिखित वृत्ति से मैं प्रस्तुत भाग उद्धृत करता हूँ :

तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम्। भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादि भावेन च विभेदिनी।

इसका गुजराती में रूपान्तर करते हुए श्री मांकड़ ने 'भाव का औचित्य प्रकृति पर अवलम्बित है' कह कर इसके बाद एक वाक्य और जोड़ दिया है : 'प्रकृति अर्थात् पात्र'। इसके कारण सब गड़बड़ हो गया है।

प्रकृति के अर्थ से सम्बद्ध गड़बड़

यहाँ प्रकृति का अर्थ है कि दिव्य मनुष्य और उत्तम, मध्यम और अधम आदि। जिस पात्र की जैसी मनुष्यगत प्रकृति हो उससे वैसे ही उचित कार्य करवाये जायें,

देवोचित सप्त सागर-लंघन की तरह के काम उससे न करवाये जायें। अगर करवाये भी जायें तो उसका वर्णन चाहे कितना ही सौष्टवपूर्ण हो वह सदा नीरस ही होगा, अतः रस-निष्पत्ति में बाधक ही होगा।

श्री मांकड़ ने प्रकृति के इस औचित्य को व्यवहार या वर्तन के औचित्य के साथ मिला दिया है और अगर कोई पात्र अनुचित बर्ताव करे अर्थात् उनकी रुचि के अनुसार आचरण न करे तो वे उसे अधम प्रकृति का कहते हैं। और वे जब प्रकृति माने पात्र और पात्र माने आलम्बन ऐसा समीकरण करके ऐसे सब स्थानों पर प्रकृति का अनौचित्य बताते हैं तो वह ठीक नहीं है। इस नीति-अनीति के आग्रह के जोश में वे निम्न पंक्तियों से निकलने वाली संकेत-भंग की ध्वनि को भी बेवफाई का अर्थ देकर पूछते हैं कि 'बेवफा प्रेम के ऐसे अर्थसंधान में ये काव्यशास्त्री क्यों नहीं समझते हैं कि इनमें प्रकृति अर्थात् आलम्बन का अनौचित्य समाविष्ट है।'

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअ अभाअण परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥

अर्थात् देखो, पद्मिनी के पत्र पर स्थिर और न हिलने वाली बगुली शोभा पा रही है, मानो स्वच्छ मरकत के पात्र में रखी हुई शंख की कटोरी। इसमें से निकलने वाले संकेतभंग की ध्वनि को भी वे बेवफा प्रेम का अर्थ कहकर पूछते हैं :

—"बेवफा प्रेम के ऐसे अर्थ शोधने वाले ये काव्यशास्त्री क्यों नहीं समझते कि यहाँ प्रकृति का यानी आलम्बन का अनौचित्य है।"

यहाँ प्रकृति के अनौचित्य का सवाल ही नहीं है। साथ ही, यह भी समझ में नहीं आता कि ये दो व्यक्ति परस्पर आलम्बन के रूप में क्यों अनुचित हैं? यहाँ नायक या नायिका जिसने संकेत को भंग किया हो उसने अनुचित किया है, यह तो कहा जा सकता है पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकृति-अनौचित्य का उदाहरण है। यह एक बहुत बड़ी नादिरशाही मानी जायगी कि कोई व्यक्ति संकेत-भंग करने के कारण ही अपनी आलम्बन बनने की योग्यता ही खो बैठे।

उनके इस पुण्यप्रकोप की पराकाष्ठा तो उक्त श्लोक के बाद में आये श्लोक के विवरण के अन्त में आती है।

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्ण अप ओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥

अर्थात् हे पथिक, इस पत्थर वाले गाँव में बिछौना बिलकुल नहीं मिलेगा। उन्नत पयोधर को देखकर यदि रहना चाहो तो रहो।

इसके विषय में वे लिखते हैं :

'घर आये राही को ऐसा अनीतिमय सम्भोग का निमन्त्रण देने वाले पात्र को प्रकृति के अनौचित्य में ही माना जायगा। अतः ऐसे उदाहरणों को मैं आलम्बन-विभाव के औचित्य के (मैं मानता हूँ यहाँ 'अनौचित्य' होना चाहिए—न) अर्थात् आभास के

ही उदाहरण समझता हूँ। संस्कृत-काव्यशास्त्री ध्वनि को ढूँढ़ने निकले और उसे ढूँढ़ कर महान् सिद्धि भी प्राप्त की पर बाद में वे एकांगी हो गये और उदाहरण देते समय यह भूल ही गये कि यहाँ आलम्बन ही गलत है, अनुचित है। इस पर फिर चाहे कैसा ही व्यंग्यार्थ क्यों न हो, वह उत्तम काव्य बन ही नहीं सकता। उत्तम तो क्या काव्य भी नहीं बन सकता।'

अगर कवि किसी असती स्त्री का निरूपण करता हो, उसमें किसी प्रसंग पर उससे यह श्लोक कहलाये और वह उस स्त्री के स्वभाव के साथ सुसंगत हो तो इसमें अनीतिमय सम्भोग का निमन्त्रण होने पर भी इसे किन कारणों से काव्य और उत्तम काव्य न माना जाय, समझ में नहीं आता।

यहाँ भी अनीतिमय सम्भोग का निमन्त्रण देने के कारण उन्होंने, उस पात्र को प्रकृति के अनौचित्य में गिनने की जो बात की है वह युक्ति-संगत नहीं है। वे इसे आलम्बन-विभाव के अनौचित्य का उदाहरण मानते हैं तदनुसार व अभिनव गुप्त के अनुसार भी इस श्लोक को रसाभास का उदाहरण मानना चाहिए। और उन्होंने इस व्याख्यान के अन्त में कहा है कि काव्य में आभास के लिए भी स्थान है। तो यहाँ इस स्थान को छीन लेने का क्या कारण है?

हम पुनः एक बार उस मिथ्यावादिनी दूती के पास चलें। उस दूती ने नायक के साथ रति-क्रीड़ा की, अतः वे रति के उद्भेद के लिए उसे अनुचित आलम्बन मानते हैं और 'इसीलिए यह कहते हैं कि इस श्लोक में जो कुछ हो पर वह वास्तविक नहीं है, आभास है, अतः यहाँ वस्त्वाभास है।' यों इस श्लोक में व्यभिचार है, तो क्या व्यभिचार मिट जाता है?

आगे चल कर वे कहते हैं : 'यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे चरित्रवाली दूती इसी प्रकार का वर्तन करेगी और उसके द्रोह से दुःखी नायिका इसी प्रकार उपालम्भ देगी। इस बात को स्वीकार कर लेने पर यह सम्पूर्ण निरूपण औचित्यपूर्ण है।' पर मुझे यह कहना है : 'ऐसा समाज-विरोधी पात्र या प्रसंग-निरूपण स्वयं अनुचित है और यह अनौचित्य पात्र अर्थात् आलम्बन-विभाव के कारण ही है।··· दूती द्वारा किये गये व्यभिचार का निरूपण चाहे कितना ही सचोट हो, फिर भी उसमें मूल प्रकृति का चयन ही गलत है। अतः इस तरह के दृष्टान्तों में आभास ही है, वास्तविकता नहीं।'

रसाभास के निरूपण का निषेध नहीं

क्या इसका अर्थ यह किया जाय कि कवि समाज-विरोधी पात्र या प्रसंग का निरूपण ही न करें? ऐसे प्रसंग या पात्रों के प्रति उचित भाव जगा सकने वाले प्रसंगों या पात्रों का अगर निरूपण हुआ हो तो क्या उसे अनुचित ही माना जाय? यहाँ प्रकृति-चयन किस कारण गलत है? आनन्दवर्द्धन के जिन वचनों को उन्होंने अपने समर्थन में प्रस्तुत किया है, मुझे नहीं लगता कि वे जिन सन्दर्भों में लिखे गये हैं उन्हें

देखते हुए उनसे उनका अभीष्ट अर्थ निकलता है। मैं उन सन्दर्भों को बता कर उन वचनों को उद्धृत करता हूँ। हम पहले देख आये हैं कि प्रकृति-व्यत्यास न किया जाय और जिस पात्र की जैसी प्रकृति है तदनुसार उसे उचित मान कर उसके व्यवहार का निरूपण किया जाय।—आनन्दवर्द्धन का यही मत है। तदनन्तर वे यह प्रश्न उपस्थित करवाते हैं कि 'उत्साहादि भाव-वर्णन में दिव्य मनुष्य आदि की प्रकृति के औचित्य की दृष्टि से कसौटी करनी हो तो करो पर रत्यादि में इसकी क्या आवश्यकता है ? कारण, यह निश्चित है कि रति तो भारतवर्षोचित व्यवहार के अनुसार ही दिव्य की भी वर्णित की जानी चाहिए।' इसके उत्तर में आनन्दवर्द्धन कहता है कि 'ना, ऐसा नहीं है। रति के मामले में अगर अतिक्रमण होता है तो बड़ा दोष आ जाता है। इसलिए अधम प्रकृति के लिए जो रीति उचित है उसके अनुसार अगर उत्तम प्रकृति के शृंगार का भी वर्णन किया जाय तो क्या वह उपहास्य न होगा ? भरत के नाट्य-शास्त्रानुसार मनुष्य, उत्तम प्रकृति राजा आदि को लेकर जिस प्रकार का शृंगार-निरूपण उचित माना गया है उस प्रकार का ही दिव्य प्रकृति के पात्रों के विषय में भी शोभित होता है। साथ ही, नाटकादि में राजादि को लेकर प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार का निरूपण देखने में नहीं आया है, अतः देवों के मामले में उसका परिहार किया जाय। अगर यह कहें कि नाटकों में तो अर्थ अभिनय से बताना होता है और सम्भोग शृंगार का अभिनय असभ्य दिखायी देता है इसलिए नाटक में उसका परिहार किया जाता है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अगर ऐसे अभिनय को असभ्य मान लें तो काव्य में ऐसे विषय की असभ्यता कैसे टाली जा सकती है ? अतः अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ—दोनों ही प्रकार के काव्यों में उत्तम प्रकृति के राजादि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन अगर कोई करता है तो वह माता-पिता के सम्भोग-वर्णन की भाँति ही अत्यन्त असभ्य माना जायगा। यही उत्तम देवतादि के विषय में भी मान लेना चाहिए।'

यहाँ आनन्दवर्द्धन जो आपत्ति उठाते हैं वह उत्तम प्रकृति के पात्र के शृंगार का वर्णन अधम प्रकृति के शृंगार की भाँति करने पर है अर्थात् प्रकृति-विपर्यास पर है। और वे आगे चल कर कहते हैं कि 'अगर उत्तम प्रकृति के सम्भोग का वर्णन करना हो तो सम्भोग शृंगार का सुरत ही एक मात्र प्रकार नहीं है। परस्पर प्रेम-प्रदर्शन आदि अनेक प्रकार सम्भव हैं तो उत्तम प्रकृति में उनके वर्णन आप किसलिए नहीं करते ? अर्थात् उत्साह की भाँति ही रति में भी प्रकृति-औचित्य का अनुसरण करना चाहिए।'

तस्मादुत्साहवत् रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्।

इससे स्पष्ट होगा कि आनन्दवर्द्धन की आपत्ति सुरत-वर्णन पर नहीं है पर जिस प्रकृति के पात्र में जो घटित न हो उसका वर्णन करने पर है अर्थात् प्रकृति-विपर्यास पर है जबकि मांकड़ की आपत्ति ऐसे विषयों के निरूपण पर ही है जिसे आनन्दवर्द्धन का समर्थन मिलना सम्भव नहीं है।

रसाभास हीन नहीं है

सम्पूर्ण लेख पढ़ने पर एक ऐसी छाप उत्पन्न होती है कि श्री मांकड़ रसाभास को हल्की वस्तु मानते हैं। यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम देख आये हैं ध्वनिरूप उत्तम काव्य के रसादि ध्वनि-प्रकार के जो आठ भेद हैं उनमें रस और रसाभास, भाव और भावाभास का भी समावेश होता है। इसमें उच्चावचता की धारणा नहीं है।

सम्पूर्ण लेख में, अनौचित्य के कारण प्रतीयमान रसादि के आभास को लेकर रोष व्यक्त करके लेख के अन्त में वे कहते हैं कि 'काव्य में आभास का स्थान है'... काव्य में, साहित्य में और कला में वस्तु है और उसका आभास है। दोनों का स्थान है। काव्यादि में तो शायद आभास के लिए अधिक स्थान है, क्योंकि आभास की तुलना में वस्तु-सत्य का बोध कराना पड़ता है जो कवि के अनुकूल रहता है। (मुझे लगता है कि यहाँ उन्होंने आभास शब्द से प्रेरित होकर गड़बड़ की है। अप्रस्तुत की भाँति ही दूसरी ही बातें की हैं। आभास की तुलना में वस्तु-सत्य का बोध कराने की एक युक्ति के रूप में काव्य में रसाभास आता है—यह शायद ही कहा जायगा। यह कहना उचित नहीं है कि जहाँ-जहाँ रसाभास आता है वहाँ-वहाँ उस रस के सत्य-बोध कराने की युक्ति के रूप में आता है, अस्तु !—न) हमारा कथन तो इतना ही है कि हमें वस्तु को वस्तु के रूप में और आभास को आभास के रूप में जान लेना चाहिए।'

मुझे लगता है कि यहाँ भी वही गड़बड़ चल रही है। हमें यह याद रखना चाहिए कि हमारे देश के शास्त्रकारों ने रस और रसाभास के बीच भेद किया ही है और उसका पृथक् निरूपण भी कर बताया है।

———

रसाभास : थोड़ी चर्चा

'संस्कृति' पत्रिका के अगस्त, १९६३ के अंक में मेरा एक लेख 'रसाभास : उसका स्वरूप और काव्य में स्थान' नाम से छपा है जिसमें मेरा आशय हमारे प्राचीन आचार्यों ने रसाभास का जो स्वरूप कल्पित किया है और काव्य में जो स्थान उसे दिया है उसका खयाल देने का तथा उसके आधार पर रसाभास के बारे में हमारे तीन प्रौढ़ विवेचकों ने जो चर्चा की है उसका परीक्षण करना था।

उस लेख के अन्तिम भाग में श्री डोलरराय मांकड़ के 'रसाभास का स्वरूप' नामक व्याख्यान की कुछ उक्तियों की मैंने चर्चा की थी जिसे ध्यान में रखकर उन्होंने 'संस्कृति' के जून, १९६५ के अंक में 'रसाभास' नामक एक लेख लिखा है। उस लेख से उपस्थित होने वाले कुछ मुद्दों की चर्चा करने का मैंने विचार किया है।

अनौचित्य-बोध कब होता है?

१. मैंने रसाभास का स्वरूप समझाते हुए उस लेख में पृ० ४७० पर वामनाचार्य के वचन उद्धृत कर जो लिखा था वह इस प्रकार है :

'...इस सम्बन्ध में वामनाचार्य के वचन खूब द्योतक हैं। वे लिखते हैं :

रसानौचित्यस्य रसावगमोत्तरमेव अवगमात् आभासताप्रयोजकता एव।

रस के अनौचित्य का बोध रसावगमन के बाद ही होने के कारण अनौचित्य की वजह से आभास है, हम इतना भर कहते ही हैं अन्यथा यह अनौचित्य वाच्य-वाचक के अनौचित्य की भाँति रस-भंग का कारण नहीं बनता। **न वाच्यवाचकानौचित्यवत् रसभङ्गहेतुता इति बोध्यम्।**'

तदनन्तर अनौचित्य से सम्बद्ध थोड़ी दूसरी चर्चा की और पृ० ४७२ पर चर्चा का सार देते हुए कहा था कि 'जिसे रसाभास कहते हैं उसका अनुभव रसानुभव ही है पर इस अनुभव के होने के बाद इसकी वस्तु में अनौचित्य लगता है अतः इसे रस न कह कर रसाभास नाम दिया जाता है।'

इस सम्बन्ध में डोलरराय मांकड़ ने इस लेख में कहा है कि 'नगीनभाई का यह कथन कि रसानुभव के बाद अनौचित्य का पता चलता है, मुझे सत्य प्रतीत नहीं होता। मुझे यह भी नहीं लगता कि उनके द्वारा पृ० ४७२ पर उद्धृत संस्कृत वाक्यों में भी कहीं ऐसा कहा गया है।'

इसमें दो बातें हैं : एक तो यह कि अनौचित्य का अनुभव रसानुभव के बाद होता है जो उन्हें सत्य नहीं लगता और दूसरी यह कि उन्हें यह नहीं लगता कि मैंने पृ० ४७२ पर जो संस्कृत वाक्य उद्धृत किये हैं उनसे इस प्रकार का अर्थ निकलता है। अर्थात् मेरा यह कथन निराधार है।

इनमें से पहली बात की चर्चा थोड़ी देर के लिए स्थगित कर मुझे दूसरी बात के विषय में इतना ही कहना है कि मेरे उस कथन के समर्थनरूप मैंने वामनाचार्य के जो वचन पृ० ४७० पर उद्धृत किये हैं और उनसे मैंने जो अर्थ निकाला है वैसा अर्थ निकलता भी है या नहीं इसका निर्णय वाचक कर सकते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि श्री मांकड़ साहब ने यह मान लिया है कि पृ० ४७२ पर मैंने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनमें से मैंने यह अर्थ-घटन किया है, अतः उन्हें ऐसा लगा है, अन्यथा उस कथन के लिए आधार तो मैं पृ० ४७० पर उद्धृत कर आया हूँ जो उनके ध्यान में, लगता है, आया नहीं है।

अपने कथन के समर्थन में मैंने उस लेख में जो दिया था उसे मैंने ऊपर उद्धृत कर दिया है। इसके बाद अभिनव गुप्त भी यही मानता है कि आभासता बाद में प्रतीत होती है। निम्नोद्धृत बचनों से मैं यही समझा हूँ। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत की टीका में ध्वनि का तीसरा प्रकार रसध्वनि भी वाच्य से भिन्न है, इस वस्तु को स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त कहता है :

रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। ...औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गारादि भवेद्धास्यः' इति बचनात्। तथापि पाश्चात्त्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवन-दशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्य-विवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि यातेश्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। पृ० ७८-९। अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम कभी भी अभिहित नहीं होते अर्थात् शब्द-वाच्य नहीं होते। और इस रूप में प्रकट होते हैं कि मानो उन सभी का प्राण आस्वाद्यमानता है अर्थात् ये सभी आस्वाद्य हैं ...औचित्य से प्रवृत्त होकर स्थायी चित्तवृत्ति अर्थात् स्थायी भाव आस्वादनीय बनकर रस होते हैं, व्यभिचारी भाव भाव बन जाते हैं और अनौचित्य से प्रवृत्त ये दोनों क्रमशः रसाभास व भावाभास बनते हैं, जिस प्रकार रावण की सीता के प्रति रति (आस्वाद्य होकर रसाभास बनती है) 'यद्यपि शृंगार से हास्य जन्म लेता है'—यह जो कहा गया है तदनुसार यह वहाँ हास्य ही है। इस पर भी सामाजिक की यह स्थिति तो बाद में ही होती है। तन्मय होने की स्थिति में तो रति की ही आस्वाद्यता होने के कारण 'दूराकर्षण' श्लोक में पौर्वापर्य के विवेक के अभाव में शृंगाराभास है। लोचन पर लिखित 'बालप्रिया' टीका के अनुसार इसका अर्थ करें तो इस प्रकार होगा : रावण जब सीता के सम्बन्ध में यह श्लोक बोलता है तब हम रावण की रति में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उस समय विभाव और रत्यादि के पौर्वापर्य का विवेक रहता ही नहीं, अर्थात् विभाव की आभासता का हमें ख्याल नहीं रहता, पर बाद में विभावादि के पूर्वापर विवेक की दशा प्राप्त होते ही यह निश्चय हो जाता है कि उसमें विभावाभास और स्थाय्याभास है, अतः हास्य-रस का उद्बोध

होते ही हास्य की चर्वणा होती है और यह निश्चित हो जाता है कि पहले की श्रृंगार-चर्वणा श्रृंगाराभास की चर्वणा थी।

साथ ही, दूसरे उद्योत में जहाँ रसाभास का निरूपण है वहाँ भी अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा है कि 'यथा रावणकाव्यकर्णनेन शृङ्गाराभासः'। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हासः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।' अर्थात् 'जिस प्रकार रावण का काव्य सुन कर शृङ्गाराभास का अनुभव होता है। यद्यपि भरत मुनि ने यह कहा है कि 'श्रृंगार की अनुकृति हास्य है' तथापि उस हास्य का अनुभव तो बाद में ही होता है।' इसके बाद वाली रावण की उक्ति उद्धृत कर उन्होंने कहा कि 'इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः।' यहाँ किसी हास्य-चर्वणा का अवसर नहीं है अर्थात् यहाँ तो श्रृंगार की ही चर्वणा है।

औचित्य का अनुभव बाद में होता हो चाहे पहले ही होता हो, चाहे जब होता हो पर जहाँ-जहाँ अनौचित्य का अनुभव होता है वहाँ-वहाँ रसाभास कहलायेगा। इस चर्चा के लिए इतना ही पर्याप्त है।

रसाभास में अविघ्नासंवित्

२. रसाभास का अनुभव रसानुभव माना गया है, इसका अर्थ है कि रसाभास भी रस की भाँति ही चर्वण-योग्य है अर्थात् आस्वादन किये जाने योग्य है, अर्थात् अगर कवि-कर्म सांगोपांग सफल हुआ है तो उसकी भी 'अविघ्नासंवित्' होती है। श्री मांकड़ इस लेख में कहते हैं कि 'रसाभास में विभावादि के अनौचित्य का बोध हमें आरम्भ से ही हो जाता है अर्थात् उसकी संविद् सविघ्ना बन जाती है, निर्विघ्ना नहीं।' और 'रसाभास में संवित् सविघ्ना है अतः रसाभास रस नहीं है।' मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि श्री मांकड़ ने 'रसाभास का स्वरूप' नामक व्याख्यान में प्रकृति माने पात्र ऐसा समीकरण बनाकर जो गड़बड़ की थी वैसी इस लेख में 'रसाभास में संवित् सविघ्ना है' कह कर की है।

राजा भर्तृहरि की रानी का राजा के अश्वपाल के साथ प्रेम था—इस प्रकार की किंवदन्ती है। रानी अश्वपाल के लिए अगम्या है इसलिए यहाँ रति अनौचित्य-प्रवर्तित है। अतः जिसमें इन दोनों के बीच के प्रेम का निरूपण आता हो वह श्रृंगाराभास का उदाहरण बन जाता है। कवि भर्तृहरि के चरित्र को वस्तु-रूप में ग्रहण कर यदि कोई कवि काव्य लिखे और उसमें अश्वपाल और रानी का प्रेम-निरूपण हो तो इसकी चर्वणा में किस प्रकार विघ्न आयेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता। यहाँ संवित् अविघ्नता ही है, अगर कवि-कर्म सांगोपांग सफल हुआ हो तो। पर, मांकड़ की आपत्ति उस रानी के चरित्र को लेकर है। वह दुष्ट है इसलिए उसे लेकर रचित काव्य भी दुष्ट है, यह जो उनका तर्क है, मैं मानता हूँ कि काव्य-प्रदेश में नहीं चल सकता।

'सरस्वतीचन्द्र' के प्रथम भाग के प्रथम पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक सरस्वतीचन्द्र कुमुद के लिए परपुरुष है और कुमुद सरस्वतीचन्द्र के लिए परस्त्री है फिर भी इस ग्रन्थ

में इन दोनों के बीच के प्रेम का निरूपण है। कौन कहेगा कि उसकी चर्वणा सविघ्नासंवित् है ?

देवयानी गुरुपुत्री है, अगम्या है अतः मांकड़ के मतानुसार तो इनकी प्रीति का निरूपण रसाभास होने के कारण उसकी चर्वणा सविघ्ना है। मुझे यह बात स्वीकार्य नहीं लगती।

अभिनव गुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र पर रचित अपनी अभिनवभारती नामक टीका में अविघ्नासंवित् को समझाते हुए रसास्वाद के सात विघ्न माने हैं, जो इस प्रकार है :

१. प्रतिपत्तावयोग्यतासम्भावनाविरहः— सहृदय में कल्पना-शक्ति की कमी हो और कवि द्वारा पात्र-चयन में पर्याप्त औचित्य का ध्यान न रखा गया हो तो काव्य में वर्णित घटना सम्भव नहीं लगती और रसानुभव में विघ्न उपस्थित होता है। अतः समुद्रलंघन, दनुजों के साथ युद्ध आदि अलौकिक घटनाएँ उन पात्रों के साथ ही निरूपित होनी चाहिए जिनके विषय में दीर्घकाल की प्रसिद्धि के कारण वे सम्भव प्रतीत हों।

२. स्वपरगतदेशकालविशेषावेशः—यह प्रतीत होते रहना कि काव्य में वर्णित सुख-दुःखादि अपने ही हैं या पराये ही हैं तो ये रसानुभव में विघ्नरूप हैं।

३. निजसुखादिविवशीभावः—अगर सहृदय अपने सुख-दुःख से विवश हो गया है तो इससे चर्वणा में बाधा उपस्थित होती है।

४. प्रतीत्युपायवैकल्य—प्रतीति के उपाय कहते हुए अगर विभावादि विकल हों अर्थात् यथायोग्य रूप में निरूपित न हों तो चर्वणा में विघ्न होता है।

५. स्फुटत्वाभाव—विभावादि अगर पूर्ण रूप से स्फुट न हुए हों, प्रत्यक्षवत् न हुए हों तो रसानुभव नहीं हो सकता।

६. अप्रधानता—काव्य में मुख्य को गौण और गौण को मुख्य बना देने से भी रस-प्रतीति में बाधा उपस्थित होती है।

७. संशययोगः—विभावादि के द्वारा स्थायी की अभिव्यक्ति होती है। पर, यह निश्चित नहीं है कि अमुक स्थायी के अमुक ही विभावानुभव हैं। एक ही प्रकार के विभावानुभव अनेक रस के सूचक हो सकते हैं। अतः कवि को इस प्रकार की योजना करनी चाहिए कि यह सन्देह ही न रह जाय कि ये विभावादि किस स्थायी के हैं।

इन सात विघ्नों में से मांकड़ कदाचित चौथे विघ्न में आलम्बन के अनौचित्य को गिना सकते हैं। यह प्रथम दृष्टि में तो ठीक लग सकता है, पर वह उचित नहीं है। यहाँ जिस वैकल्य का उल्लेख किया गया है वह लौकिक अनौचित्यजनित नहीं है, पर जहाँ तक मैं समझा हूँ कि जिस स्थायी की अभिव्यक्ति के लिए जिन-जिन विभावों और अनुभावों का जितनी मात्रा में निरूपण आवश्यक हो उसमें जितने अंशों में कचाई रह जायगी उतना ही वह प्रतीत्युपायवैकल्य है।

इसके आधार पर यदि मांकड़ यह कहते हैं कि रसाभास में संवित् सविघ्ना होती है और रस में संवित् अविघ्ना होती है तो यह बात अनुभव के विरुद्ध है।

३. श्री मांकड़ ने पृ० २१० पर यह कहा है कि 'रसध्वनि की बात करते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यारक्रमः। पर, इसके आधार पर रसाभास रस है या रस का प्रकार है यह प्रमाणित नहीं होता। यहाँ आनन्दवर्द्धन को जो कहना है वह केवल इतना ही है कि रस, भाव, रसाभास आदि अक्रम अर्थात् संलक्ष्यक्रम है··रसानुभव की प्रक्रिया एक ही नहीं कही जा सकती। पहले जैसा कहा जा चुका है तदनुसार रस का अनुभव निर्विघ्न है और रसाभास का सविघ्न है।'

यह ठीक नहीं है। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि रसाभास भी रस-ध्वनि का ही एक प्रकार है। अपने लेख में श्री मांकड़ ने 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हासः' नामक वाक्य, अभिनव अनुकृति का अर्थ अनुचित शृंगार मानता है, कह कर उद्धृत किया है। उसके तुरन्त बाद यह वाक्य आता है : अतएव अभिलाषे एकतर-निष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र-तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। अर्थात् जहाँ अभिलाष एकतरनिष्ठ हो और शृङ्गार शब्द का प्रयोग हो वहाँ उसका अर्थ आभास करना चाहिए। आगे कहता है : शृङ्गारेण वीरादिनामपि आभासरूपता उपलक्षिता एव। शृंगार कहते ही उसमें वीरादि की आभासता समझ लेनी चाहिए अर्थात् भरत द्वारा जहाँ शृंगार कहा गया है वहाँ केवल शृङ्गाराभास ही नहीं वरन् दूसरे रसाभास भी समाविष्ट हुए मान लेने चाहिए।[1] और बाद में समारोप करते हुए कहता है : एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। (पृ० १७९) **इस प्रकार रसध्वनि के ही ये सब भावध्वनि** (रसाभासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदयध्वनि, भावसन्धि-ध्वनि, भावशबलताध्वनि) आदि निष्यन्द हैं, और आस्वाद में जिसका प्राधान्य हो तदनुसार उन्हें अलग कर उनकी अलग-अलग व्यवस्था की जाती है अर्थात् उन्हें अलग नाम दिये जाते हैं। वह एक और उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करता है :

यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससम्मूर्च्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभ-मिति। जिस प्रकार गंधद्रव्यों के मिश्रण को एक गंध के रूप में उपभुक्त गंध के विषय में भी यह कहते हैं कि यह जटामासीयुक्त है, उसी प्रकार, अर्थात्, अनेक गन्धद्रव्य

१. यहाँ एक वस्तु स्पष्ट करने की आवश्यकता है। भरत में रसाभास का उल्लेख नहीं आता है, पर अभिनवगुप्त अपने समर्थन में भरत का ऊपर उद्धृत वचन 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हासः' उद्धृत करता है और उसमें प्रयुक्त 'अनुकृति' शब्द का अर्थ आभास करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि शृंगाराभास से हास्य प्रकट होता है। और वह कहता है कि जहाँ कहीं रति एकतरनिष्ठ हो और शृंगार शब्द प्रयुक्त हुआ हो वहाँ शृंगार शृंगाराभास ही समझना चाहिए। अतः जहाँ 'शृङ्गारादि भवेत् हास्यः' वहाँ भी शृंगार से शृंगाराभास ही समझना चाहिए। बाद में वह कहता है कि यहाँ शृंगार अर्थात् सभी रसाभासों से हास्य प्रकट होता है, यह मान लेना चाहिए। अभिनवभारती में भी उन्होंने इसी प्रकार स्पष्टता की है।

एकत्र किये गये हों और उसमें एकरस हुई गन्ध का अनुभव होता हो तो भी उसके विशेषज्ञ यह कह देते हैं कि इसमें जटामासी की गन्ध मुख्य है और यह गन्ध जटामासी की गन्ध से युक्त है तदनुसार ही रसध्वनि में भी आस्वाद में जिसका चमत्कार मुख्य हो उसके आधार पर पृथक्-पृथक् नाम देते हैं, यथा, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, आदि।

यदि तात्विक दृष्टि से विचार करें तो रस भी आठ, नौ या दस नहीं हैं, अनन्त हैं। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ के बारहवें अध्याय में दस रस गिनाये हैं और यह कहा है कि निर्वेदादि को भी रसता प्राप्त होती है और इसके कारण उसने यह दिया है कि आस्वादन-योग्यता के कारण रत्यादि स्थायी भाव रसता को प्राप्त करते हैं तो यह आस्वाद-क्षमता अगर निर्वेद आदि में भी पर्याप्त है तो वे सभी रस कहे जायेंगे।

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥८॥

इस पर टीका लिखते हुए नमिसाधु कहता है :

अयमाशयो ग्रन्थकारस्य—यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति। भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात्संज्ञां चाश्रित्य अष्टौ नव वा रसा उक्ता इति। अर्थात् ग्रन्थकार का आशय यह है कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है जो परिपुष्ट होकर रस न बन जाय। भरत ने सहृदय को पिघलाने की शक्ति के प्राचुर्य के कारण नामाभिधान कर आठ या नौ रस माने हैं। अर्थात् हृदय को स्पर्श करने वाली चर्वणाक्षम किसी भी वृत्ति का आस्वाद रसास्वाद ही है। बस भेद इतना है कि हम सुविधा के लिए अलग-अलग नाम देते हैं। इसी बात को अभिनव गुप्त ने यह कह कर प्रकट किया है कि रस तो एक ही है और ये सब तो उसके विवर्त हैं। दोनों का अर्थ एक ही है।

काव्य में रसाभास का स्थान

४. काव्य में रसाभास के स्थान को लेकर श्री मांकड़ ने यह स्पष्टता की है कि 'रसाभास जब दूसरे रस के अर्थात् रसध्वनि के उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त होता है अर्थात् वस्तुध्वनि के उद्दीपक के रूप में निरूपित होता है, उस समय रसाभास का काव्य में स्थान है और ऐसे अवसरों पर रसाभास दोष नहीं है।'

मान लीजिए कि भर्तृहरि की रानी ने अपनी दासी को अश्वपाल के पास भेजा और वह मम्मट द्वारा दिये गये ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत श्लोक में जैसा व्यक्त है तदनुसार व्यवहार कर आती है और उससे रानी यह श्लोक अगर कहती है तो यह उत्तम काव्य का दृष्टान्त हुआ या नहीं ?

श्री मांकड़ के इस लेख के कथनानुसार कदाचित यह उत्तम काव्य कहा जाय और उसमें रसाभास दोष न हो पर ऐसा ही श्लोक जब सन्दर्भ-निरपेक्ष हो तब उसमें रसाभास दोष माना जायगा और वह श्लोक काव्य ही न माना जायगा।

उनके द्वारा दिया गया उदाहरण देखिए :

देखो, पद्मिनी के पत्र पर स्थिर और न हिलने वाली बगुली शोभा पा रही है, मानो स्वच्छ मरकत के पात्र में रखी हुई शंख की कटोरी।

इसके विषय में श्री मांकड कहते हैं : 'इसमें जो दो पात्र हैं वे पति-पत्नी नहीं हैं। स्त्री परकीया है, पुरुष परपुरुष है। इस प्रकार पात्रों के बीच रति का प्रकरणनिरपेक्ष निरूपण अनौचित्य उपस्थित करता है।'

अब, यहाँ मुझे जो समझ में नहीं आता वह इतना ही है कि रानी उस दूती को उपालम्भ देती है तो उनके अनुसार वह श्लोक उत्तम काव्य होगा। तो क्या वहाँ परकीया रति नहीं है ? और वहाँ अगर चर्वणा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता, रसाभास दोष नहीं बन जाता तो इस मुक्तक में किसलिए विघ्न उपस्थित होता है और वह दोष रूप माना जाता है ?

और इस प्रकार के मुक्तकों को वस्तुतः प्रकरणनिरपेक्ष कहा भी जा सकता है क्या ? क्या उसका प्रकरण इन दो या चार चरणों में सूचित नहीं कर दिया गया ? सूचित न कर दिया गया हो तो यह श्लोक किस प्रकार समझ में आता ? मुझे ऐसा लगता है कि इस तरह के मुक्तकों पर विचार करते समय श्री मांकड़ यह मान लेते हैं कि कवि वाचकों को इस प्रकार व्यवहार करने की प्रेरणा देना चाहता है। कवि के ऊपर यह हेत्वारोपण उचित नहीं है।

नीति के आग्रह से उत्पन्न गड़बड़

८. मैंने अपने प्रथम लेख में भी यही कहा था कि श्री मांकड़ की विचारणा में नीतिविषयक आग्रह बाधक सिद्ध होता है। उनके इस लेख में भी आग्रह ने कितनी ही उलझनें पैदा कर दी हैं। रसचर्वणा अथवा अविघ्ना संवित् और पात्रों के चारित्र्य की नैतिकता-अनैतिकता उनकी विचारणा में मिल गयी हैं और इसी कारण जहाँ-जहाँ उन्हें व्यवहार दिखायी देता है वे उसे सविघ्ना संवित् मान लेते हैं, जो उचित नहीं है।

किसी पापी के पाप-कर्म के प्रति चाहे कितनी ही घृणा हो फिर भी काव्य में ऐसे पात्र के हुए निरूपण के आस्वाद में यह वस्तु बाधक नहीं होनी चाहिए। यह मान लेना भी उचित नहीं कि कवि जो कुछ निरूपित करता है उस सबका वह समर्थन करता है। अगर श्री मांकड़ की दृष्टि ही सच्ची है तो 'घरे बाहिरे' में बिमला और संदीप के बीच के व्यवहार का निरूपण हमारे लिए आस्वादयोग्य नहीं होना चाहिए। पर, हम सभी का अनुभव है कि यह संवित् अविघ्ना है, यथा—विमला और निखिल के पारस्परिक व्यवहार की है। पर, इन पात्रों के चारित्र्य पर विचार करते हुए इतना अवश्य कहें कि विमला संदीप के साथ जिस तरह व्यवहार करती है वह उचित नहीं है और निखिल के साथ भी उसका व्यवहार उसके लिए शोभाप्रद नहीं था। पर, यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ वह धर्मनीति छोड़कर व्यवहार करती है वहाँ-वहाँ उसका निरूपण रस-वाहक नहीं होता।

मैं इसका एक उत्कट उदाहरण देता हूँ। विख्यात जर्मन लेखक टामस मान ने 'द होली सिनर' नामक एक उपन्यास लिखा है जिसमें भाई-बहन और माता-पुत्र के श्रृंगार का वर्णन आता है।

इस उपन्यास में एक ठाकुर के पुत्र-पुत्री परस्पर प्रेम करने लगते हैं और पिता जिस रात को मरता है उसी रात को वे समागम करते हैं। भाई पश्चाताप का मारा राज छोड़कर चला जाता है और बहन से जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे अमुक वस्त्र और लेख के साथ नदी में बहा दिया जाता है। एक मछियारे के हाथ में आ जाने से वह उसे पालता है और समीपस्थ आश्रम के पादरी उसे धर्म-शिक्षा देते हैं। बड़े होने पर उसे पता चलता है कि उसके माता-पिता ने उसे विचित्र स्थितियों में छोड़ दिया था, अतः वह माता-पिता को ढूँढ़ने निकल पड़ता है। घूमता-घूमता वह अपनी माता के राज्य में आता है; वहाँ उसकी माँ उससे प्रेम करने लगती है और दोनों विवाह कर लेते हैं। उनके एक पुत्री उत्पन्न होती है। पर, यह जान कर कि यह मेरी माता है, वह घर छोड़कर चला जाता है और साधना व अध्ययन के बल पर अन्ततः वह पोप बनता है। उसकी माता भी सच्चे सम्बन्धों की जानकारी होने पर पश्चाताप करती हुई प्रायश्चित के लिए अपनी पुत्री को लेकर पोप से मिलने जाती है। इस तरह इन तीनों का पुनः विचित्र संयोगों में मिलन होता है।

अब, इसमें अगर कुछ आस्वाद्य है तो वह ऐसी विचित्र परिस्थितियों में फँसे मनुष्यों के मनोभावों का हृदयस्पर्शी निरूपण ही है। लेखक का यह कहने का आशय नहीं है कि जिस प्रकार इस कहानी में हुआ है, उसी प्रकार समाज में भी हुआ करे अथवा इस कहानी के पात्र जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं उस प्रकार का व्यवहार सभी करें। यहाँ मेरी यह समझ में नहीं आता कि काव्य का काव्य के रूप में रसास्वाद लेने में इसमें निरूपित अत्यन्त विलक्षण घटनाएँ क्यों और किस प्रकार बाधक बनती हैं। इसी तरह की एक लोककथा श्री यशोविजयजीकृत जम्बूस्वामी रास के दूसरे अधिकार की छठी और सातवीं ढाल में आती है। वहाँ भी विलक्षण परिस्थिति ही आस्वाद्य है और उसके आस्वादन में विघ्न के लिए अवकाश नहीं है।

श्री मांकड़ की विचार-धारा में जो दोष है; मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने अनौचित्य के तीनों अर्थों को एकाकार कर दिया है। जिसके कारण रसाभाव रसाभासता को प्राप्त होता है, वह अनौचित्य मानसिक-लौकिक है, जिसके कारण भाव-निरूपण में दोष आता है, वह अनौचित्य पात्र-प्रकृतिगत है और जिसकी वजह से संवित् सविघ्ना बनती है वह अनौचित्य कवि-कर्मगत है। इन तीनों को एक मान लेने से श्री मांकड़ की विचार-धारा गड़बड़ा गयी है। साथ ही, अविघ्नासंवित् का विघ्न और पात्र की नैतिकता-अनैतिकता—यह भी एक वस्तु नहीं है। मेरी बुद्धि के अनुसार, कविनिर्मित पात्र या प्रसंग की प्रत्यक्षवत् प्रतीति और अनुरूप संवेदन जहाँ हो उसे अविघ्नासंवित् कहा जाय---भले ही ये पात्र या प्रसंग कुछ भी हों : प्रसंग राम और सीता का हो,

दुष्यन्त और शकुन्तला का हो, देवदास और पार्वती का हो, जमाल और अलककिशोरी का हो, मैडम बावरी की एम्मा और उसके किसी यार का हो, माता का शिरच्छेद करने के लिए तैयार परशुराम का हो, दशरथ पर क्रोध से आगबबूला हुए लक्ष्मण का हो, राम के प्रति आकर्षण से विह्वल हुई शूर्पणखा का हो या फिर पिंगला और अश्वपाल अथवा उसकी दासी का हो। कवि का यह काम है कि वह निरूपितार्थ निश्चित वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति कराये और ऐसा करने में ही उसकी सफलता है। इस तरह का अनुभव होने पर जब हम उस पात्र के पात्रत्व का विचार करते हैं तब अगर उसमें किसी नीति से अलग या अशोभन कार्य दिखायी दे तो उसी अनुपात में उस पात्र का गौरव कम हो जाता है, उसी अनुपात में हम पात्र को निम्न कोटि का मानते हैं। पर, यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि यदि पात्र निम्न कोटि का है इसलिए उसकी निरूपण-प्रतीति सविघ्ना होती है। यदि इस प्रकार होता तो 'ईडिपस सेक्स' का रसानुभव किस प्रकार होगा ? श्री मांकड़ में इन दो वस्तुओं की गड़बड़ दिखायी देती है।

श्री अभिनव गुप्त ने सहृदय की व्याख्या देते हुए कहा है कि 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।' अर्थात् काव्यानुशीलन के अभ्यास के कारण विशद बने जिनके मनोमुकुर में वर्णनीय वस्तु में तन्मय होने की योग्यता हो ऐसे हृदयसंवाद वाले सहृदय होते हैं। अविघ्नासंवित् होने में जो विघ्न आते हैं उनमें से कितने ही सहृदयगत होते हैं और कुछ कविकर्मगत होते हैं। सहृदयगत विघ्नों में से एक 'स्वसुखादिविवशीभावः' माना गया है। इसे जरा विस्तृत करने पर इसमें पसन्द-नापसन्द को भी स्थान दिया जा सकता है। श्री मांकड़ के मामले में इनका नीति-अनीति विषयक आग्रह उनके वर्णनीय वस्तु में तन्मय होने में बाधक होता है अर्थात् उनकी तन्मयीभवनयोग्यता इतनी मात्रा में कम होती है, अतः उन्हें ऐसा लगता है कि जहाँ-जहाँ लौकिक अनौचित्य है वहाँ-वहाँ संवित् सविघ्ना है। यह दोष कवि के निरूपण का नहीं पर सहृदय की विवशता का है।

परिशिष्ट

रसाभास

'रसाभास : थोड़ी चर्चा' नामक लेख लिखने के पश्चात् मेरे हाथ में श्री के० कृष्णामूर्ति की पुस्तक 'अँसेज़ इन संस्कृत क्रिटिसिज़्म' आयी। इसमें रसाभास पर एक लेख है जो मेरी रसाभास-सम्बन्धी धारणा का समर्थन करता है, अतः उसके आधार पर यहाँ थोड़ा विवरण और जोड़ता हूँ। श्री कृष्णामूर्ति ने पूना ओरियन्टल सीरीज़ में ध्वन्यालोक का अँग्रेजी अनुवाद प्रकट किया है और 'ध्वन्यालोक ऐण्ड इट्स क्रिटिसिज़्म' नामक एक पुस्तक भी मैसूर के 'काव्यालय' की ओर से प्रकट की है। इनकी इस पुस्तक का प्रकाशन कर्नाटक यूनिवर्सिटी ने किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र के केन्द्र में रस है और उसे ध्यान में रख कर नाटक के वस्तु, पात्र तथा प्रसंग-निरूपण से सम्बद्ध अनेक नियम बताये गये हैं। भरत ने नाट्य के अनेक प्रकार स्वीकार किये हैं पर उनमें नाटक को सर्वोत्तम माना है और इस बात पर बल दिया है कि नाटक में वस्तु और नायक सदा उदात्त होते हैं। आठ या नौ रस स्वीकार करने पर भी नाटक में अंगीरस बनने के लिए उसने दो को ही—शृंगार और वीर को ही—पात्रता प्रदान की है। और इसका कारण आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं तदनुसार नाटक केवल जीवन का दर्पण ही नहीं है पर वह अपने नायक के चरित्र के द्वारा सदाचार का उपदेश भी देता है : 'शृङ्गाररसाङ्गैःरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशात् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।' (ध्वन्यालोक, ३-३० पर वृत्ति, पृ० ३९८-९) अगर ऐसा करना है तो नायक-नायिका का चरित्र उदात्त होना चाहिए। (मैंने अपने पहले लेख में नायक-नायिका के लक्षण बताये थे) भरत शृंगार को शुचि, उज्ज्वल और दर्शनीय के रूप में वर्णित करता है और आनन्दवर्द्धन भी इसे मधुर और सुकुमारतर रूप में परिचित कराता है। तनिक-सी ग्राम्यता अथवा अनौचित्य उसे हल्का बना देती है। अर्थात् गम्भीर नाटकों में हल्के प्रकार का प्रेम अथवा शृंगार अंगीरस नहीं हो सकता। पर, जीवन की भाँति नाटक में तो सभी प्रकार के पात्र और भाव आयेंगे ही। तो इन सबका क्या स्थान? इसका उत्तर सरल है। नाटक में नायक-नायिका का भाव ही अर्थात् अंगीरस ही उदात्त होना चाहिए। प्रतिनायक अथवा पताकाप्रकरी आदि के पात्रों के भाव यथाजीवन वास्तविक अथवा वस्तुतः हल्के और ग्राम्य भी हो सकते हैं, क्योंकि इनके कारण उसका कला-मूल्य जरा-सा भी कम नहीं होता। इसीलिए भरत ने कहा है कि नाटक के अलावा अन्य स्वरूपों में, यथा—प्रहसन, भाण और उत्सृष्टिकांक में इस प्रकार के

अनौचित्य का विचार अंगीरस के विषय में भी नहीं किया जाता; क्योंकि ये प्रकार ही रंजक रसप्रधान हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि रस के भी दो प्रकार हैं : एक केवल रंजक और दूसरा रंजक होने के साथ-साथ बोधक (एडिफाइंग)। नाटक में ये दूसरे प्रकार के रस ही अंगी हो सकते हैं और नाटक के अलावा अन्य प्रकारों में पहले प्रकार का भी अंगीरस हो सकता है। साथ ही, इससे यह भी फलित होता है 'कि नाटक में रस-विचार दो स्तरों पर किया जा सकता है : कला के स्तर पर और नीति के स्तर पर। अंगीरस का विचार केवल कलास्तर पर ही किया जाता है जब कि अंगीरस का विचार कला-स्तर के अलावा नीति के स्तर पर भी किया जाता है। आनन्दवर्द्धन या मम्मट ने रसाभास को रसदोष नहीं माना है। शिव-पार्वती के सम्भोग-वर्णन में जो अनौचित्य है वह इन दोनों के मतानुसार दोष है, पर रसाभास इस कोटि में नहीं आता। इसका कारण यह है कि रसदोष सहृदयों में विरसता पैदा करता है, पर रसाभास वैरस्य पैदा नहीं करता, इतना ही नहीं पर अनौचित्य होने पर भी वह आस्वाद्य होता है। इस प्रकार दोष का अनौचित्य और रसाभास का अनौचित्य भिन्न हैं।

सभी रसों का आभास तो अन्ततः हास्य में परिणत होता है। अभिनव गुप्त ने इसे 'श्रृंगारानुकृतिर्हासः' कह कर समझाया है। इसका अर्थ हुआ कि उदात्त रस और उसका विडम्बनारूप हास्यरस—इन दोनों के बीच रसाभास का स्थान है। रसाभास का कारण-रूप अनौचित्य उदात्त पात्रों के आधार पर निरूपित हो रहे रस के निरूपण में दोष की छाया डालता है, फिर भी गौण पात्र अथवा प्रतिनायक के निरूपण में यह गुण-रूप बन जाता है, क्योंकि उनके चरित्र की यह हमें प्रत्यक्षवत् प्रतीति कराता है। बाद में रूप गोस्वामी, कर्णपुर आदि ने तो कृष्ण-गोपियों के श्रृंगार को श्रृंगाराभास नहीं, पर श्रेष्ठ श्रृंगार माना है।

सीता-विषयक रावण की उक्ति के बारे में कहा है कि इसमें रावण की सीता के प्रति उत्कट प्रीति प्रकट होती है। रावण की निगाहों से देखने पर तो वह श्रृंगार ही है। उसका प्रेम गहरा और चाहना तीव्र है। अतः प्रेक्षक भी आरम्भ में तो रंगभूमि पर इसका अभिनय देख कर श्रृंगार का ही आस्वाद प्राप्त करते हैं। पर, थोड़ी ही देर में उन्हें मालूम होता है कि यह तो एकपक्षीय प्रेम है, और इसी कारण रावण के प्रति उनकी सहानुभूति समाप्त हो जाती है और इसके अनन्तर रावण के प्रयत्न हास्यास्पद बन जाते हैं। फिर भी उन्होंने आरम्भ में रावण के प्रेम का जो आस्वाद किया वह मिट नहीं जाता; वह विशुद्ध श्रृंगार भी नहीं है। वह हास्य भी नहीं है। यह बात दूसरी है कि बाद में वह हास्य का विभाव बन जाता है। प्रश्न है कि तो यह कौन सा रस है ? अभिनव के मतानुसार यह रस न होकर रसाभास है। अगर हम थोड़ी सी शिथिल भाषा का उपयोग करें तो इसे श्रृंगार-रस कह सकते हैं। पर, शास्त्र की दृष्टि से तो यह श्रृंगाराभास ही है। इसमें अनौचित्य है, पर यह अनौचित्य दोष नहीं बन जाता, क्योंकि यह मुख्य अथवा अंगीरस का स्पर्श नहीं करता, कारण यह है कि यह

प्रतिनायक के भाव-रूप में निरूपित है। इसी तरह दूसरे रसों के बारे में मान लेना चाहिए। अभिनव गुप्त इन सभी के दृष्टान्त नहीं देता। रसाभास का अनौचित्य विरोधी रसों के निरूपण की भाँति विघातक नहीं है। यह रस का ही ईषद्-ऊन रूप है और यह ऊनता इतनी अल्प होती है कि तत्काल तो यह परिपुष्ट रस का आभास पैदा कर देती है—सीप में रजत के आभास की भाँति। यहाँ यह बात ध्यान में आ गयी होगी कि कम-से-कम श्रृंगार के मामले में तो अनौचित्य का विचार कला-स्तर के अतिरिक्त नीति के स्तर पर भी करना पड़ता है।

———

वक्रोक्ति अथवा कुन्तक का काव्य-विचार

मैंने अपने व्याख्यान के लिए विषय रखा है : 'वक्रोक्ति अथवा कुन्तक का काव्य-विचार।'

भामह का 'काव्यालङ्कार'

इससे पहले कि मैं कुन्तक की काव्य-चिन्ता पर आऊँ, मुझे थोड़ी भूमिका बाँधने की आवश्यकता है। हमारे यहाँ काव्य अथवा साहित्य की स्वतंत्र चर्चा करने वाला अगर कोई प्राचीनतम ग्रंथ मिलता है तो वह भामह का 'काव्यालंकार' है। इसके पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय का निरूपण करते समय सोलहवें अध्याय में वाक्य के गुण-दोष और अलंकार की चर्चा की गयी है और उसमें मात्र दस गुण, दस दोष और चार अलंकारों की बात आती है। भामह का यह ग्रंथ तो काव्यशास्त्र का ही ग्रंथ है और इसमें उसने साठ कारिकाओं में काव्य-शरीर का, एक सौ साठ में अलंकार का, पचास में दोष का, सत्तर में काव्य-न्याय का और साठ में शब्द-शुद्धि का निरूपण किया है। साथ ही, इसमें उसने लक्षण और उदाहरण स्वयंरचित दिये हैं।

काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु

काव्य-प्रयोजनों में आनन्द (प्रीति) को गिनाने वाला वह प्रथम ही है। भरत में और बहुत है, पर आनन्द का नामोल्लेख नहीं है। काव्य के हेतुओं में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का उसने अपने ढंग से उल्लेख किया है।

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्

उसके जमाने में आलंकारिकों के दो वर्ग थे : एक वर्ग अर्थालंकारवादी था और दूसरा शब्दालंकारवादी था। प्रथम वर्ग यह मानता था कि रूपकादि अलंकार ही काव्य-शोभा के निष्पादक हैं जब कि दूसरा वर्ग यह मानता था कि अर्थालंकार तो बाह्य हैं, क्योंकि पहले तो शब्द ही सुनायी देता है और बाद में अर्थ समझ में आता है। हृदय पर पहले शब्द का असर होता है अर्थात् शब्दालंकार ही मुख्य हैं। अर्थ न समझ में आने पर केवल शब्द-माधुर्य से भी श्रोता आनंद प्राप्त करता है। अर्थात् उसके मतानुसार सौशब्द्य ही, शब्द-सौंदर्य ही काव्य है। अर्थ-व्युत्पत्ति ऐसी नहीं है। इन दोनों आत्यन्तिक मतों का समन्वय करता हुआ भामह कहता है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों भिन्न हैं अर्थात् उसे तो ये दोनों ही इष्ट हैं। केवल शब्दालंकार अथवा केवल अर्थालंकारों से काव्य नहीं बन जाता, काव्य तो शब्दों और अर्थ के साहित्य से बनता है : **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।**

वक्रता ही वाणी का सौन्दर्य

यह हमारे काव्य की प्राचीनतम व्याख्या मानी जायगी; पर संभवतः भामह द्वारा ये काव्य की व्याख्या के रूप में कहे गये वचन न भी हों। उसके सम्पूर्ण ग्रंथ को देखने से लगता है कि उसे इतना ही नहीं कहना है कि शब्द और अर्थ का साहित्य अर्थात् काव्य। हम देख आये हैं कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य बनता है अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के लिए काव्य में स्थान है। यह अलंकरण अथवा सौंदर्य किस प्रकार साधित होता है? भामह कहता है :

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।—१-३६

अर्थात् वक्र शब्द और अर्थ वाली उक्ति ही वाणी का इष्ट सौंदर्य है। भामह ने अपने ग्रंथ के पाँचवें परिच्छेद में कहा है कि कितने ही कवि तेजस्वी रत्नों से, फलों से नमित वृक्षों से और मुकुलित पुष्पों से वाणी को अलंकृत करते हैं, पर इनसे काव्य की शोभा अभिवृद्ध नहीं होती। इन सबसे तो भूषण, उपवन, माला आदि की ही शोभा बढ़ती है। वाणी की शोभा तो वक्रोक्ति से सिद्ध होती है :

अंशुमद्भिश्च मणिभिः फलनिम्नैश्च शाखिभिः ।
फुल्लैश्च कुसुमैरन्यैर्वाचोऽलङ्कुरुते यथा ॥ ६४ ॥
तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः ।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥ ६६ ॥

काव्य के विविध प्रकार बताने के बाद वह कहता है :

युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।—१-३०

अर्थात् ये सब साहित्य अथवा काव्य-प्रकार वक्र-स्वभाव वाली उक्ति वाले होने चाहिएँ। आशय है कि सभी प्रकार के काव्यों में वक्रोक्ति होनी चाहिए।

साथ ही, अपने ग्रंथ के छठे परिच्छेद में किन शब्दों का काव्य में प्रयोग किया जाय और किनका नहीं, इसके विवेक की प्रस्तावना के रूप में वह कहता है :

वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ॥ ६-२३ ॥

'कवि की वाणी में किन शब्दों का प्रयोग होना चाहिए और किनका नहीं तत्सम्बन्धी विवेक अब कहा जायगा।' यहाँ भी कवि-वाणी को वह वक्र कहता है जो द्रष्टव्य है। इस प्रकार हम भामह की समग्र विचारणा को ध्यान में रखें तो यह कहना पड़ेगा कि वक्रतायुक्त शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है। उसका ऐसा मत है कि जहाँ वक्रता न हो वहाँ काव्य भी नहीं होगा। दूसरे स्थान पर उसने यह कहा भी है। हेतु, सूक्ष्म और लेश—इन तीन अलंकारों को वह स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उनमें वक्रोक्ति नहीं होती।

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ २-८६ ॥

आगे चल कर वह कहता है कि वक्रोक्तिहीन उक्ति काव्य नहीं मानी जायगी, यह तो कहानी कहने की अपेक्षा समाचार कहा जायगा, रिपोर्टिंग कहा जायगा।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ २-८७॥

सूर्य अस्त हुआ, चन्द्र प्रकाशित होता है, पक्षी घोंसलों में जाते हैं, आदि—यह कहीं काव्य है? यह तो समाचार कहा जायगा।

वक्रोक्ति का अर्थ

भामह ने वक्रोक्ति को स्पष्ट नहीं किया है, पर अतिशयोक्ति अलंकार की चर्चा के अन्त में इस प्रकार कहा है कि—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो-विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ २-८५॥

ये सभी अतिशयोक्ति वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ का विभावन होता है। अतः कवि को इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार कैसा?

आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रंथ में यह श्लोक उद्धृत किया है। इसका विश्लेषण करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि प्रथम जो अतिशयोक्ति के लक्षण बताये गये हैं वे सब वक्रोक्ति अर्थात् अलंकार के प्रकार हैं, क्योंकि भामह स्वयं कहता है—
'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।'

और बाद में इस श्लोक को समझाते हुए कहा गया है कि 'शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता अर्थात् शब्दार्थ का लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थान। इस प्रकार यही उस अलंकार की अलंकारता है।' यहाँ वक्रता का अर्थ 'लोकोत्तीर्ण' रूप में अवस्थान किया गया है। भामह ने स्वयं अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण देते हुए कहा है कि—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा॥ २-८१॥

'किसी कारणवश लोकोत्तर—अलौकिक अर्थ का बोध कराने वाले वचन अतिशयोक्ति हैं।' यहाँ वक्रता का अर्थ भी लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थान किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकार मात्र में अतिशयोक्ति का अनुप्रवेश होता है। इसके कारण ही अलकार अलंकार होता है। आनन्दवर्द्धन ने यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है :

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशयोगोऽन्यस्य-त्वलङ्कारमात्रतैवेति'.. । पृ० ४६७-८

'कवि-प्रतिभा के बल पर अगर अलंकार में अतिशयोक्ति की स्थापना हुई है तो उसमें चारुत्व अधिक दिखायी देता है; दूसरे तो मात्र नाम के ही अलंकार होते हैं।' अब यह लोकातिक्रान्तगोचरता अथवा लोकोत्तरता क्या करती है? तो कि अनयार्थो विभाव्यते। इसके द्वारा अर्थ विभावित होते हैं। 'विभावित होते हैं'—इसके अभि-

नवगुप्त तीन अर्थ करता है : (१) सभी लोगों के उपभोग के कारण पुराने पड़ गये अर्थ का विचित्र रूप में, सुन्दर रूप में भावन होता है। (२) इस जगत् के प्रमदा उद्यान आदि सामान्य पदार्थ भाव जगाने वाले विभावरूप बन जाते हैं। (३) ये पदार्थ भावरूप बन जाते हैं, रसमय बन जाते हैं। इस तरह वक्रोक्ति के कारण पुराने अर्थ भी नये जैसे लगते हैं, भाव जगाने वाले विभावरूप बन जाते हैं और अन्ततः रसमय हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि भामह के मतानुसार 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' सही है, पर वह शब्दार्थ वस्तु को रसमय बनाने वाली वक्रोक्ति से प्रयोजित होना चाहिए।

रीति अथवा मार्ग

शब्दार्थ का साहित्य और वक्रता इन दो मुद्दों के बाद मैं भामह के रीति अथवा मार्ग से सम्बद्ध मुद्दा लेना चाहता हूँ। उन्होंने इन दोनों में से एक भी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उनके युग में काव्य की रीति अथवा मार्ग के आधार पर वैदर्भ और गौड़ीय नामक दो वर्ग माने जाते रहे होंगे। इनमें से कितने ही विद्वान् वैदर्भ को ही श्रेष्ठ मानते थे और गौड़ीय में अर्थ-सौष्ठव होने पर भी उसे स्वीकारने के लिए तत्पर न थे। इस सम्बन्ध में भामह कहता है कि काव्य में गौड़ीय और वैदर्भ के आधार पर भेद किया जा सकता है क्या ? पर मूर्ख गतानुगतिक न्याय के कारण ऐसा करते हैं। (मूर्ख शब्द मेरा नहीं है)

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥ १-३२ ॥

वह आगे कहते हैं : 'अश्मकवंश आदि वैदर्भ कहलाता है। उसे कहलाने दो। नाम कहीं गुण देख कर नहीं दिये जाते, इच्छानुसार दिये जाते हैं।'

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥ १-३४ ॥

वैदर्भ-रचना में अधिकांशतः स्पष्टता, सरलता और कोमलता होती है। इसीलिए भामह कहते हैं कि अगर किसी रचना में ऋजुता और कोमलता तो हो पर अर्थगौरव और वक्रोक्ति न हो, तो वह काव्य थोड़े ही कहा जायगा; वह तो केवल संगीत के समान कान को मधुर लगने वाला है, बस। यहाँ भी उनका वक्रोक्ति पर दिया गया बल द्रष्टव्य है।

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिः प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ १-३४ ॥

इसी प्रकार अगर कोई गौडीय रचना अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थपूर्ण, न्यायसंगत और अनाकुल अर्थात् जटिलता आदि दोष से मुक्त हो तो वह गौडीय होने

पर भी श्रेष्ठ मानी जायगी, और अगर कोई रचना वैदर्भ है पर उसमें ये गुण नहीं हैं तो वह केवल वैदर्भ होने के कारण श्रेष्ठ नहीं होगी।

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥ १-३५॥

इस तरह हम देखते हैं कि भामह रचना की उत्कृष्टता का निर्णय उसकी गौडीय या वैदर्भ होने के आधार पर करने के विरुद्ध है। वह कहता है कि उसमें काव्य-गुण—वक्रता, अर्थगौरव आदि हैं या नहीं यह देखना चाहिए। उसका यह स्पष्ट मत है कि अगर ये गुण नहीं हैं तो रचना काव्य नहीं मानी जायगी।

अब, हम कुन्तक का काव्य-विचार देखेंगे। एक तरह से कहें तो कुन्तक ने भामह के ही काव्य-विचार को अपनी प्रतिभा के आलोक से आलोकित कर उसकी जानकारी सभी को देकर प्रस्तुत किया है; अथवा भामह के विचार में निहित बीज कुन्तक में अंकुरित, विकसित और पल्लवित होकर विलास करते हुए दिखायी देते हैं।

कुन्तक की विशेषता

कुन्तक की पहली विशेषता यह है कि वह कवि-कर्म पर खूब भार देता है। बारम्बार वह कवि-व्यापार का उल्लेख करता है। काव्य की व्याख्या ही वह 'कवि का कर्म वह काव्य' कह कर देता है। उसकी विचारणा में कवि केन्द्र में है। कवि का व्यक्तित्व काव्य-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है जिसे कुन्तक ठीक तरह से समझता है और इसीलिए उसने मार्ग अथवा रीति की चर्चा करते समय स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कवि के स्वभाव-भेद से मार्ग-भेद दिखायी देता है। कारण, कवि का जैसा स्वभाव होता है तदनुरूप ही वह व्युत्पत्ति प्राप्त करता है और ये दोनों मिलकर उससे दोनों के अनुरूप काव्यमार्ग का ही अनुसंधान करवाते हैं। इस तरह, उसके मार्ग की कल्पना में 'द स्टाइल इज दि मैन' का पूर्वरूप देखा जा सकता है। अंग्रेजी में स्टाइल का जो अर्थ है उसे कुन्तक का मार्ग शब्द बहुत अंशों में व्यक्त करता है। इसे हम मार्ग की चर्चा के समय विस्तार से देखेंगे।

उसके ग्रन्थ का स्वरूप

आरम्भ में मैं ग्रंथ के स्वरूप के विषय में दो शब्द कहना चाहूँगा। उसका मूल ग्रंथ कारिकाओं के रूप में लिखा हुआ है। इस ग्रंथ का नाम 'अलंकार' है। इन कारिकाओं को समझने के लिए उसने स्वयं वृत्ति लिखी हैं और उनमें बीच-बीच में श्लोक भी ग्रथित हैं। इन श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' कहता है। जिन्होंने ध्वन्यालोक पढ़ा है उन्हें तुरन्त याद आ जायगा कि उसकी रचना भी इसी प्रकार की है। वहाँ अन्तरश्लोक को संग्रहश्लोक कहा गया है। उन्होंने अपनी इस वृत्ति का नाम 'वक्रोक्ति-जीवितम्' रखा है। आज मूल 'अलंकार' ग्रंथ नहीं मिलता है; 'वक्रोक्तिजीवित' नामक वृत्ति के साथ ही मिलता है, अतः वह ग्रंथ ही 'वक्रोक्तिजीवित' के नाम से विख्यात है। मूल नाम विस्मृत हो गया है। यद्यपि कुन्तक तो मंगलाचरण के बाद आने वाली

दूसरी कारिका में ही कहता है कि इस ग्रंथ का नाम 'अलंकार' है : **'ग्रन्थस्यास्य अलंकार इत्यभिधानम् ।'**

इस कारिका में उन्होंने कहा है कि लोकोत्तर, चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए काव्य का यह कोई 'अलंकार' रचा गया है। इसमें भी कवि-कर्म पर दिया गया बल देखा जा सकता है।

काव्य के प्रयोजन

तदुपरान्त वह काव्य के तीन प्रयोजन गिनाता है : १. राजपुत्र आदि अभिजात वर्ग के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्यरूपी धर्म का उपदेश, २. अमात्य, सेनापति, सुहृद, स्वामी, सेवक आदि के लिए उचित व्यवहार की शिक्षा और ३. चतुर्वर्ग के फल के आस्वाद से भी ऊँचे ऐसे काव्यामृत के रस का अनुभव कर तद्विदों अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों के हृदयों में चमत्कार फैलाना अर्थात् बारम्बार आनन्द उत्पन्न करना। यों पहले दो प्रयोजनों का एक ही में समावेश हो सकता है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि कुन्तक काव्य के दो प्रयोजन मानता है : उपदेश और आनन्द और आनन्द को वह चतुर्वर्ग के फल के आस्वाद से भी उच्च मानता है।

सालङ्कार ही काव्य

इसके बाद छठी कारिका में वह खूब महत्त्व की बात करता है :

अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया, तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥ १-६ ॥

"यहाँ काव्य को पूरी तरह समझने के लिए अलंकार और अलंकार्य को अलग कर उनका विवेचन किया जाता है।" शब्द, अर्थ और अलंकार—ये तीनों मिल कर ही काव्य नामक एक अखण्ड पदार्थ बनता है। इसमें, बाद में, तीनों का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। तदपि काव्य के स्वरूप को पूरी तरह से समझने के लिए उस अलंकार्य शब्द और अर्थ और उनके अलंकारों को पृथक् कर यहाँ उनका विवेचन किया जाता है— "जिस प्रकार वाक्यों में पदों का अथवा पदों में प्रकृति-प्रत्ययों का पृथक् अस्तित्व न होने पर भी व्युत्पत्ति के लिए उन्हें अलग कर उनका विवेचन किया जाता है। सत्य बात तो यह है कि सालंकार होने पर काव्य बनता है।" अतः इसका अर्थ यह हुआ कि—

सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालङ्कृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति।

"अलंकार सहित अवयवहीन सम्पूर्ण वचन ही काव्य है। अर्थात् हुआ यह कि अलंकार वाला होने पर ही वह काव्य है। ऐसा नहीं है कि काव्य अलग और उस पर आरोपित अलंकार अलग हों।"

यहाँ हम एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन होते हुए देखते हैं कि कलाकृति एक अखण्ड निरवयव पदार्थ है। इतालवी दार्शनिक क्रोचे ने काव्य में अलंकार को लेकर जो कहा है वह यहाँ याद आये बिना नहीं रहता। उसने कहा है कि—

"One can ask oneself how an ornament can be joined to an expression? Externally? In that case it must always remain separate. Internally? In that case, it does not assist expression or mars it; or it does form part of it and is not ornament, but a constituent element of expression, indistinguishable from the whole."

—Aesthetic, Ch. IX, p. 113.

आनन्दवर्द्धन ने भी उत्तम काव्य के अलंकारों के विषय में कहा है कि—

अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति।...तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वम् रसाभिव्यक्तौ।

"कोई प्रतिभाशाली कवि जब रस में ध्यान केन्द्रित करता है उस समय विचारों में दुर्घट लगने वाले अलंकार' मैं पहले, 'मैं पहले' करते हुए उसके आगे आने के लिए स्पर्धा करते हैं...अर्थात् रस की अभिव्यक्ति में उन्हें बाहर का नहीं माना जा सकता।"
—पृ० २२१-२२

'सालंकारस्य काव्यता' का जो अर्थ ऊपर दिया गया है उसके अलावा यह अर्थ भी सही है कि सालंकार न होने पर वह काव्य नहीं माना जायगा। अलंकारों के बिना काव्यत्व आता ही नहीं।

काव्य की व्याख्या

तत्पश्चात् वह काव्य की व्यवस्थित व्याख्या देता है जो इस प्रकार है:

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ १-७॥

अर्थात् वक्र कवि-व्यापार वाले, तद्विदों के लिए आह्लादक बंधयुक्त शब्द और अर्थ काव्य हैं।

इनमें से प्रत्येक शब्द स्पष्टता की अपेक्षा रखता है और जब हम कुन्तक द्वारा दी गयी प्रत्येक शब्द की व्याख्या समझ लेंगे तब हम उनकी काव्य-धारणा समझ सकेंगे। अतः उन्होंने जिस क्रम से यह व्याख्या समझायी है उसी क्रम से उसे समझने का प्रयत्न करेंगे।

शब्दार्थौ काव्यम्

पहली बात है: शब्दार्थौ काव्यम्। शब्द और अर्थ मिल कर काव्य बनता है। शब्द और अर्थ—दोनों मिल कर एक काव्य होता है। यह तो विचित्र कहा जायगा। पर, यही बात सत्य है। कितने ही कवि-कौशल द्वारा रचित सौन्दर्यातिशय वाले शब्द को ही काव्य कहते हैं, तो कितने ही रचना-वैचित्र्य को लेकर चमत्कार उत्पन्न करने वाले अर्थ को ही काव्य कहते हैं। इन दोनों पक्षों का इससे खण्डन हो जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तेल होता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ में—प्रत्येक में तद्विदाह्लादकारित्व होता है, किसी एक में नहीं।

इसके बाद वह दो-तीन उदाहरण देकर बताता है कि वर्ण-साम्य से सिद्ध रम्यता मात्र से काव्य नहीं बन जाता। अर्थ भी मनोहर होना चाहिए। साथ ही, अर्थ तो सुन्दर हो पर उसे व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त शब्द रमणीय न हों तो भी काव्य नहीं बन जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल रमणीय शब्द से अथवा केवल रमणीय अर्थ से काव्य नहीं बन जाता।

तस्मात् स्थितमेतत्, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्य।

यहाँ इस प्रकार यह कह उसने भामह की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिन्हें हम पहले देख आये हैं।

इस प्रकार शब्द और अर्थ मिल कर काव्य होता है। ये दो होने पर भी, इनमें से एक तनिक भी कम हो तो भी वह साहित्य तो कहा जायगा पर वह इष्ट नहीं है इसीलिए तो वह कहता है कि 'सहितौ'—अर्थात् सहभाव से रहने वाले होने चाहिएँ।

सहितौ

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तो नित्य है, दोनों कभी पृथक् नहीं होते फिर यह क्यों कहा है कि साथ होने चाहिएँ? इसका उत्तर देते हुए कुन्तक कहता है कि यह बात ठीक है पर यहाँ जो साहित्य अभिप्रेत है वह विशिष्ट प्रकार का साहित्य है। कैसा? तो वह ऐसा कि जिसमें वक्रता के कारण विचित्र गुणों और अलंकारों की सम्पत्ति परस्पर स्पर्धा करती हैं। इस बात को वह अन्तःश्लोक द्वारा समझाता है: मेरे मतानुसार जिसमें सर्वगुणसम्पन्न और दो मित्रों की भाँति परस्पर संगति में निहित शब्द-अर्थ आपस की शोभा बढ़ाते हों वह रचना काव्य कहलायेगी।

मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥ १८॥

इसके पश्चात् कारिका में प्रयुक्त शब्दार्थौ शब्द द्विवचन में है जिसका कारण समझाते हुए वह कहता है कि यहाँ एक शब्द और एक अर्थ इस प्रकार दो व्यक्ति-वाचक द्विवचन नहीं हैं, पर दो जातिवाचक द्विवचन हैं अर्थात् शब्दजाति और अर्थ-जाति, इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न जातियों का सामूहिक उल्लेख है। अतः द्विवचन प्रयुक्त है। इसका अर्थ यह है कि एक शब्द और एक अर्थ मिल कर काव्य नहीं बन जाता। समग्र अर्थजाति और समग्र शब्दजाति से साहित्य बनता है। इस बात को ध्यान में रख यदि हम 'सहितौ' का अर्थ करें तो वह इस प्रकार होगा कि शब्द अपनी जाति के दूसरे शब्दों के साथ और अर्थ अपनी जाति के दूसरे अर्थों के साथ जहाँ परस्पर स्पर्धा करते हैं वही साहित्य यहाँ विवक्षित है।

सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्।

यदि ऐसा नहीं है तो तद्विदाह्लादकारित्व को हानि पहुँचेगी।

तदनन्तर, कुन्तक जिनमें शब्द की शब्द के साथ और अर्थ की अर्थ के साथ स्पर्धा वर्तमान हो, साहित्य के ऐसे दोनों प्रकार के उदाहरण देकर अन्त में कहता है कि इन उदाहरणों में से प्रत्येक के शब्द या अर्थ के प्राधान्य के अनुसार मैंने किसी एक के साहित्य का विरह—अभाव दर्शाया है। पर वास्तव में तो यदि किसी एक प्रकार का विरह हो तो वह दूसरे प्रकार के साहित्य के विरह में पर्यवसित हो जाता है और इस तरह कवि के चित्त में स्वयं पैदा होने पर भी यदि उसे व्यक्त करने के लिए समर्थ शब्द न मिले तो अर्थ मृतवत् ही रहता है और शब्द भी काव्योचित अर्थ के अभाव में दूसरे अर्थ का वाचक बन कर वाक्य के लिए व्याधिरूप बन जाता है।

तथा चार्थः समर्थवाचकाऽसद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते, शब्देऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासम्भवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभातीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अब तक की चर्चा का सार है: बंध में प्रयोजित पारस्परिक स्पर्धा करने वाले शब्दार्थ ही काव्य हैं। वह और आगे कहता है कि वह बंध कैसा होना चाहिए? तो वह 'वक्रकविव्यापारशाली' होना चाहिए। 'वक्र' अर्थात् शास्त्रादि में शब्द और अर्थ के जो प्रसिद्ध प्रयोग हैं उनसे भिन्न छः प्रकार की वक्रता वाले प्रयोग; 'कविव्यापार' अर्थात् कवि का क्रिया-व्यापार। उसके माध्यम से जो सुशोभित हो उसे बंध कहा गया है। जिसमें प्रसिद्ध प्रयोग से भिन्न शब्द और अर्थ के प्रयोग हुए हों वह रचना दूरारूढ़ कल्पना वाली भी हो सकती है, पर इस दूरारूढ़ता के निवारण के लिए कहा गया है कि बंध तद्विदाह्लादकारी होना चाहिए। तद्विद का अर्थ है काव्यमर्मज्ञ। अर्थात् काव्यमर्मज्ञ को आह्लाद देने वाला बंध होना चाहिए। यहाँ वह वक्रता के प्रकार और तद्विदाह्लादकारित्व की स्पष्टता नहीं करता और यह कहता है कि बाद में यथावसर इसे दिया जायगा।

शब्द

इस तरह काव्य के लक्षण देने के बाद वह शब्द और अर्थ का स्वरूप विस्तार से समझाता है। यह तो सभी जानते हैं कि वाचक का अर्थ शब्द है और वाच्य का मतलब अर्थ से है। इसके अलावा द्योतक और व्यंजक शब्द भी होते हैं जिनका समावेश उपचार से वाचक में ही कर लेना चाहिए, क्योंकि अर्थ-प्रतीति कराना तीनों का ही सामान्य धर्म है। इसी प्रकार वाच्य में द्योत्य और व्यंग्य का भी समावेश हो जाता है। यद्यपि यह बात लोकप्रसिद्ध है कि शब्द और अर्थ क्रमशः वाचक और वाच्य है तथापि साहित्य-क्षेत्र में इनका नया ही अर्थ होता है, यह कह कर वह उनके विषय में कहता है:

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥ ९॥

'एक ही अर्थ के दूसरे शब्द होने पर भी विवक्षित अर्थ का जो एकमात्र वाहक है वही शब्द कहलायेगा। इसे समझाते हुए वह कहता है कि कवि स्वयं जो अर्थ प्रस्तुत करना चाहता हो उसे व्यक्त करने वाला जो एक मात्र शब्द हो—उस अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शब्दों के होने पर भी—एक ही शब्द जो कवि के इष्टार्थ को समुचित रूप से व्यक्त करता हो वही शब्द है; दूसरा नहीं।

विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः। कथम्, अन्येषु सत्स्वपि। अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु।

कुन्तक कहता है कि विवक्षित अर्थ का एक मात्र वाचक शब्द ही है। इसी को वाल्टर पीटर ने 'दि यूनीक वर्ड' कहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह कुन्तक के शब्दों का ही हजार वर्षों के बाद अनुवाद करता हुआ कहता है :

"The one word for the one thing, the one thought amid the multitude of the words (अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु), terms that might just do......the unique word, phrase, sentence, paragraph, essay or song absolutely proper to the single mental presentation or vision within."

—Appreciations, Style, p. 29.

(काम दे सकने वाले ऐसे अनेक शब्दों और पदों में से विवक्षित एक वस्तु, एक विचार के लिए एकमेव शब्द—अद्वितीय शब्द;······वाक्यांश, वाक्य, परिच्छेद, प्रबन्ध अथवा गीत केवल एक ही मानस-दर्शन अथवा अन्तःदर्शन के लिए सर्वथा उचित होता है।)

जहाँ सामान्य का कथन करना हो वहाँ विशेष का कथन करने वाले शब्दों से काम नहीं चल सकता। वह इस बात को उदाहरण देकर समझाता है :

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः रत्नान्यमूनि मकराकर मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि॥

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'रत्न' नामक सामान्य संज्ञा के उपयोग करने के स्थान पर 'कौस्तुभ' नामक विशेष संज्ञा के प्रयोग करने से काव्य की चोट लग गयी है। काव्य का लक्ष्य-वेध पूरा हो गया है। कारण, कौस्तुभ नामक विशेष रत्न में निहित किसी गुणविशेष के कारण कदाचित् विष्णु उसकी याचना करें और दूसरे रत्नों के लिए न भी करें। यह कहकर वह तीसरी पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार प्रस्तुत करता है :

एकेन किं न विहितो भवतः स नाम।

सच्चे कवि जहाँ विशेष अर्थ के प्रतिपादन की आवश्यकता होती है वहाँ विशेषार्थ-प्रतिपादक शब्द का ही प्रयोग करते हैं। जैसे कालिदास ने किया है :

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

यहाँ शंकर वाचक हजारों शब्द मौजूद होने पर भी बीभत्स रस के आलम्बन-विभाव का वाचक शब्द 'कपाली' जुगुप्सा की व्यंजना के लिए प्रयुक्त है जिससे इसे अपूर्व

वाचकता प्राप्त हुई है। 'सम्प्रति' और 'द्वयं'—ये दोनों शब्द भी अत्यन्त रमणीय हैं। कारण कि पहले तो अकेली उस चन्द्र की कला ही (कपाली के समागम की प्रार्थना-रूप) दुर्व्यसन-दूषित होने के कारण शोक का कारण बन गयी थी। और यह कहकर कि अब तू भी उसे इस खराब कांम में मदद करने के लिए तैयार हुई है, उसका मजाक उड़ाया गया है। 'प्रार्थना' शब्द भी अत्यन्त रमणीय है, क्योंकि काकतालीय न्यायानुसार यदि तेरा समागम कापालिक के साथ हुआ होता तो कदाचित् इतना निंद्य नहीं माना जाता; पर तू तो स्वयं भाग कर उसके साथ मिल जाती है जो कुलीन के लिए अत्यन्त कलंककर है। 'सा च', 'त्वं च' की पदयोजना करने के कारण दोनों के परस्परस्पर्धी लावण्य का जो अनुभव होता है उसका यहाँ प्रतिपादन हुआ है। 'कलावतः' और 'कान्तिमती' पदों में मत्वर्थीय प्रत्यय का उपयोग किया गया है, अतः दोनों की प्रशंसा ध्वनित होती है। इस प्रकार इसका प्रत्येक अर्थ किसी दूसरे शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'कवि द्वारा विवक्षित विशेष अर्थ का कथन करने का सामर्थ्य ही वाचकत्व अर्थात् शब्द का लक्षण है।'

कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।

रचना-प्रक्रिया

तदुपरान्त वह रचना-प्रक्रिया का निरूपण करता है जिससे इस बात की स्पष्टता होती है कि कवि को अपने विवक्षित अर्थ को यथावत् व्यक्त करने के लिए उचित शब्द कैसे मिल जाते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो काव्य में शब्द और अर्थ का साहित्य किस प्रकार सिद्ध होता है—हो सकता है। वह कहता है—

यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते।

'जिससे उस (काव्य-रचना के) समय (कवि की) विशेष प्रतिभा में विशेष रूप से प्रगट किसी एक परिस्पन्द के कारण (वास्तविक जगत् के) पदार्थ भावोज्ज्वल बन जाते हैं अथवा प्रकृत प्रसंग के अनुकूल किसी गौरव से उसका मूल स्वभाव ढँक जाता है तथा उस प्रकार के विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ शब्दों द्वारा कहलाया जाकर सहृदयों के चित्त के लिए चमत्कारक हो जाता है।'

अगर दासगुप्त का आधार लेकर इस खण्ड को समझने का प्रयत्न करें तो कुन्तक का कथन इस प्रकार लगता है कि काव्य-रचना के समय कवि के चित्त में एक स्पन्दन जगता है और इसके कारण इस जगत् के बाह्य पदार्थ अपना बाह्य स्वभाव छोड़कर कवि-हृदय में भावमय रूप धारण करते हैं। इस प्रकार ये पदार्थ कवि की विवक्षा के

अनुकूल भावमय अर्थ बन जाते हैं और तदनन्तर इसी परिस्पन्दन के कारण इन भावमय अर्थों को उचित रूप में अभिव्यक्त कर सकने वाले शब्दों के द्वारा उनका कथन होता है। अतः वे सहृदयों के लिए आह्लादकारी बन जाते हैं। इसमें दो बातें होती हैं : एक तो कवि-चित्त में जाग्रत परिस्पन्दन के कारण जागतिक पदार्थ भावमयमूर्ति धारण करते हैं और फिर इस परिस्पन्दन के कारण कवि को इस भाव-मूर्ति को शब्द-बद्ध करने में समर्थ शब्द भी मिल जाते हैं। इस तरह पदार्थों को भावमय बना देने वाला और भावमय रूप को शब्द में मूर्त करने वाला एक ही परिस्पन्दन होता है। अतः उस भावमय अर्थ और उसे व्यक्त करने वाले शब्द के बीच पूरा-पूरा सामंजस्य होता है। वास्तव में तो यह अर्थ जब अपने लिए उचित शब्दों में प्रस्तुत कर दिया जाता है तभी अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकाशित होता है। क्रोचे जो यों कहता है कि 'इन्ट्यूशन' ही 'एक्सप्रेशन' है, अथवा एक्सप्रेशन के अभाव में 'इन्ट्यूशन' नहीं है, इसके समान यह है। कुन्तक ने कहा है कि 'कवि-प्रतिभा में जब अर्थ प्रतिभासित होता है तब वह अनगढ़ पत्थर के टुकड़े के समान लगने वाली मणि के समान होता है, पर जब वह किसी विदग्ध कवि द्वारा रचित काव्य में ग्रथित होता है तब सान पर पहली बार चढ़े हीरे की भाँति मनोहर बनकर तद्विदों के लिए आह्लादजनक काव्यत्व प्राप्त करता है।'

प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्ध-कविरचितवक्रवाक्योपरूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वम-धिरोहति।

तात्पर्य है कि पहले कवि के चित्त में स्फूर्त अर्थ सान पर बिना चढ़े हीरे की भाँति पत्थर के टुकड़े की तरह होता है उसका रूप-रेख स्पष्ट नहीं होता पर जब वह पूर्णतः व्यक्त करने में समर्थ शब्दों में मूर्तिमन्त हो जाता है तभी उसका यथातथ अथवा वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। अर्थात् तभी उसका स्वरूपगत आकलन होता है। अभिव्यक्ति सिद्ध हो तभी भाव का पूरा आकलन होता है—इसका यही अर्थ है।

अर्थ

इस तरह काव्य में उपयोग में आने वाले शब्द के स्वरूप का निरूपण कर कुन्तक अर्थ की बात करता है। अर्थ कैसा होना चाहिए? सहृदयों को आह्लाद देने वाला अपने स्वभाव को लेकर सुन्दर होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थों के धर्म तो नानाविध होते हैं, पर काव्य में उनमें से ऐसे ही धर्मों के साथ उसका सम्बन्ध बताना चाहिए जो सहृदयों को आनन्द दे सकें अर्थात् उसमें इतनी समर्थता होनी चाहिए कि जिससे स्वभाव की कोई महत्ता या रस का पोषण करने की शक्ति प्रकट हो। इसके उसने दो उदाहरण दिये हैं जिन्हें हमें देखना चाहिए। प्रथम उदाहरण रघुवंश के चौदहवें सर्ग से दिया गया है। इस श्लोक में उस समय का वर्णन है जब

लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ गये तब सीता का रुदन सुनकर आवाज का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि उसके पास पहुँच जाते हैं :

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

अर्थात् कुश और समिधा बीनने के लिए निकले हुए मुनि रोने की आवाज का अनुसरण करते हुए उसके पास पहुँच गये। ये वे मुनि थे कि निषाद द्वारा मारे गये पक्षी को देखकर उत्पन्न जिनका शोक श्लोकत्व को प्राप्त हुआ था।

इस श्लोक में कौन से ऋषि ?—तो वाल्मीकि का मात्र नाम देने के बदले 'निषाद द्वारा मारे गये पक्षी को देखने मात्र से जिनका शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था वे : 'परमकारुणिक मुनि'। इसमें कवि का अभिप्राय यह है कि ऐसे ये मुनि इस दशा में पड़ी हुई जनक राजा की पुत्री को देखकर अवश्य विवश हो जायँगे और उनके अन्तर में जो भाव जगेगा वह करुण रस को परिपुष्ट करने में उपयोगी सिद्ध होकर सहृदय के हृदय के लिए आह्लादक हो जायगा। इस रूप में यहाँ वाल्मीकि के एक धर्म का वर्णन किया गया है जो रस-परिपुष्टि में उपकारक होकर सहृदयों को आह्लाद देने वाला बन जाता है।

दूसरा उदाहरण मेघदूत से दिया गया है। मेघ को अलका जाकर जो संदेश देता है उसका यह प्रथम भाग है :

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाह
तत्सन्देशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ५६ ॥

इस श्लोक में प्रथम सम्बोधन ही यक्ष-पत्नी को आश्वासन देने वाला है। 'अविधवे' शब्द से यह सूचित होता है कि तेरा पति स्वस्थ है। 'मुझे अपने पति का मित्र मानो' शब्दों से मेघ की विश्वसनीयता सूचित होती है। मित्र भी कोई सामान्य नहीं है—'प्रिय' है। इससे यह सूचित होता है कि मैं सभी विश्रम्भकथा—गुप्त बातों के लिए भी उचित पात्र हूँ। इस प्रकार पहले चरण में उसे आश्वासन देकर अपनी ओर उन्मुख कर 'उसका संदेश लेकर तेरे पास आया हूँ' कह कर प्रस्तुत बात आरम्भ की गयी है। संदेश को 'हृदयनिहित' अर्थात् 'हृदय में धारण किया हुआ' कहा गया है। इस प्रकार इससे यह सूचित होता है कि 'यह संदेश पत्ररूप में नहीं है, मौखिक है और उसे मैंने अपने हृदय में धारण किया है, ऐसा मैं सावधान हूँ।' कदाचित् यह शंका हो कि संदेश पहुँचाने में कुशल बुद्धिशाली किसी दूसरे को क्यों नहीं रखा गया ? इसीलिए वह कहता है कि मैं इस मामले में कुशल ही हूँ। 'मैं अम्बुवाह हूँ।'—यह कह कर वह यह भी सूचित करता है कि वह संदेश वहन कर सकता है। मैं कैसा हूँ ? प्रवासियों के समूह में त्वरा पैदा करता हूँ अर्थात् उन्हें झटपट घर पहुँचने की

प्रेरणा देता हूँ। ये प्रवासी कौन हैं ? ये प्रवासी विश्राम करने वाले हैं अर्थात् थके हुए हैं और जो विश्राम करते हैं, जल्दी नहीं कर सकते।' समूह शब्द यह सूचित करता है कि अनेक प्रवासियों से इसी प्रकार जल्दी करवाता हूँ अर्थात् ऐसा करवाने का मुझे अभ्यास है, मैं इसमें कुशल हूँ। किस प्रकार जल्दी करवाता हूँ ? तो गंभीर और स्निग्ध ध्वनि से अर्थात् मधुर और रमणीय शब्दों द्वारा, विदग्ध दूत के उत्तेजक शब्दों के द्वारा उतावल करवाता हूँ। ये प्रवासी कहाँ विश्राम करते हैं ? वे मार्ग में विश्राम करते हैं। इससे ध्वनित होता है कि मुझे किसी स्थानविशेष की आवश्यकता नहीं होती। मैं तो कहीं भी जहाँ प्रवासी हों उन्हें घर जाने के लिए उत्तेजित कर सकता हूँ। तो फिर अपने मित्र को प्रेम के लिए क्यों नहीं उत्सुक बना सकता ? प्रवासियों के समूह कैसे हैं ? 'अबला की वेणी को छोड़ने को उत्सुक हैं।' यहाँ 'अबला' शब्द से उनकी प्रियतमाओं द्वारा विरह-दुःख सहन न कर सकने की दुर्बलता सूचित होती है। 'वेणी छोड़ने को उत्सुक' कथन से उनके मन का पत्नी के प्रति अनुराग ध्वनित होता है। अतः इस श्लोक का यह अर्थ हुआ कि भाग्यवश विरह-वेदना झेलते हुए और परस्पर अनुराग वाले प्रेमीजनों को समागम का सुख प्राप्त करवाने रूपी मित्र-कार्य करने का मैंने व्रत लिया है। यहाँ कवि ने मेघरूप पदार्थ के जिस स्वभाव का वर्णन किया है वही, वास्तव में तो इस प्रबन्ध के 'मेघदूतत्व' का जीवित है अर्थात् तद्विदों को अत्यन्त आह्लाद देने वाला हो सकता है।

वक्रोक्ति

काव्य की व्याख्या में प्रयुक्त शब्द और अर्थ के जो प्रसिद्ध अर्थ हैं उनसे भिन्न ही अर्थ यहाँ लिये जायँ—यह कहकर वह कहता है कि ऐसे शब्दार्थ मात्र से काव्य नहीं बन जाता। ये दोनों तो अलंकार्य हैं। इन दोनों को अलंकृत करना चाहिए। इनका अलंकरण किन अलंकारों के द्वारा होना चाहिए ? तो कहते हैं कि वक्रोक्ति ही वह अलंकार है। उसे ही वह वैदग्ध्यभंगीभणिति कहता है :

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ १०॥

'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' को वह इस तरह समझाता है : वैदग्ध्य अर्थात् कविकर्म-कौशल। उसकी भंगी अर्थात् विच्छित्ति अथवा शोभा तथा उससे युक्त भणिति अर्थात् उक्ति। संक्षेप में वक्रोक्ति माने विचित्र (असाधारण) कथनशैली।

यहाँ वह एक बात की पुनः स्पष्टता करता है कि इसका अर्थ कदाचित् कोई यह भी करे कि शब्दार्थ अलग हैं और उन्हें किन्हीं दूसरे अलंकारों से सजाना है। पर इसका यह अर्थ नहीं है। वक्रता अर्थात् वैचित्र्यपूर्ण कथन करना ही अलंकार है।

यहाँ वह वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति की चर्चा करता है जो उसके सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ऊपर ऐसा कहा गया कि शब्द और अर्थ का अलंकार केवल वक्रोक्ति ही है। तो दूसरे आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति को जो अलंकार माना है उसका

क्या होगा ? इसके उत्तर में कहता है कि जो आलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकार कहते हैं वे विवेक-शक्ति से हीन हैं और अलंकार और अलंकार्य के बीच भेद नहीं कर पाते। वस्तुतः स्वभावोक्ति को अगर अलंकार मान लें तो अलंकार्य क्या होगा ? स्वभाव के उल्लेख के अभाव में तो किसी वस्तु की बात ही नहीं की जा सकती अर्थात् स्वभाव-वर्णन के बिना तो वस्तु ही निरुपाख्य बन जाती है। स्वभाव के अभाव में तो वस्तु खरगोश के सींग की भाँति शब्द और ज्ञान के लिए अगोचर हो जाती है। अगर आप स्वभाव-कथन को ही अलंकार कहें तो फिर गाड़ी वाले के वचनों को भी काव्य कहने की बारी आ जायगी। आप यह क्यों नहीं समझते कि अगर किसी वस्तु का वर्णन करना हो तो उसके स्वभाव का ही वर्णन करना पड़ेगा और वह तो वर्ण्य-विषय अर्थात् शरीर होगा। यह शरीर अन्य किसको सुशोभित करेगा ? अपने को सुशोभित करेगा, अगर आप यह कहेंगे तो मैं पूछता हूँ कि यह शरीर स्वयं ही स्वयं को किस प्रकार सजायेगा ? कोई क्या अपने ही कंधे पर चढ़ सकता है ?

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ १३ ॥

अन्त में वह कहता है कि अगर दो घड़ी के लिए स्वभाव को अलंकार मान लें तो उसका परिणाम यह आयेगा कि जब कोई अलंकार रचा जायेगा तब उसका ज्ञान स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में होगा। अगर स्पष्ट रूप में होगा तो वहाँ संसृष्टि होगी और अस्पष्ट रूप में होगा तो वहाँ संकर मानना पड़ेगा और बाद में संकर और संसृष्टि के अलावा कोई शुद्ध अलंकार रहेगा ही नहीं। अतः वस्तु का स्वभाव ही काव्य का विषय है और उसका वर्णन किसी अलंकार के द्वारा किया जाना है। इसीलिए नौवीं कारिका में अर्थ को सहृदयों को आह्लाद देने वाला होने के कारण सुन्दर कहा गया है और दसवीं कारिका में शब्द और अर्थ को अलंकार्य कहा गया है।

साहित्य

इस रूप में काव्य की व्याख्या में निहित 'शब्दार्थौ' पद की व्याख्या कर अब वह 'सहितौ' पद को समझाता हुआ कहता है : शब्द और अर्थ तो सदा ही संयुक्त रूप से ज्ञान का विषय बनते हैं तो यहाँ 'सहितौ' कह कर नया क्या कहना चाहेंगे ? इसके उत्तर में कुन्तक कहता है कि शब्द और अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध है उस अर्थ में इस साहित्य को नहीं समझना है। अन्यथा व्याकरण के सूत्र और गाड़ी वाले का असम्बद्ध भाषण भी साहित्य मान लिया जायगा। यहाँ तो व्याकरण, मीमांसा और न्याय की अपेक्षा किसी अन्य तत्त्व को ही साहित्य कहा है। 'यह भी प्रसिद्ध ही है। पुनः कथन की क्या आवश्यकता ?' अगर कोई इस प्रकार की बात करे तो इसके उत्तर में वह एक गर्वभरी उक्ति प्रस्तुत करता है और वास्तव में तो उसके इस गर्व के लिए पर्याप्त कारण हैं। वह कहता है कि "इसलिए जरूरत है कि यह साहित्य आज तक के लम्बे समय तक केवल साहित्य शब्द मात्र से ही पहचाना जाता रहा है। पर कवि-कर्म-कौशल की

पराकाष्ठा पर पहुँचने के कारण रमणीय बने इस साहित्य के विषय में 'इसका सही अर्थ यह है' पर किसी भी विद्वान् ने आज तक विचार नहीं किया है। अतः मैं आज सरस्वती के हृदयरूपी अरविन्द के मकरन्द-बिन्दुओं से सुन्दर और सत्कवि की वाणी के अन्तःआमोद से मनोहर प्रतीत होने वाले इस साहित्य शब्द के अर्थ को सहृदयरूपी भ्रमरों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।"

अत एवैतदुच्यते यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्य-शब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तारामोदमनोहर-त्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ॥ १६ ॥

यह कह कर वह शब्द और अर्थ के साहित्य की स्पष्टता करता है :

> साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
> अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १७ ॥

'प्रशस्य सौन्दर्य सिद्ध करने के लिए शब्द और अर्थ—इन दोनों की, इन दोनों में से कोई भी दूसरे की अपेक्षा उच्च या निम्न न हो इस कारण से मनोहर कोई विन्यासभंगी साहित्य है।' दोनों में से कोई किसी से उच्च या निम्न न हो ऐसा तो दोषयुक्त शब्दार्थों में भी दिखायी देता है पर उसे टालने के लिए कहा गया है 'प्रशस्य सौन्दर्य सिद्ध करने के लिए।'

साहित्य की विस्तृत व्याख्या

इस प्रकार खुद के द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषा की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में तीन अन्तःश्लोकों में साहित्य की विस्तृत परिभाषा देता है :

> मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः ।
> अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥ ३४ ॥
> वृत्तौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
> स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥ ३५ ॥
> सा काप्यावस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।
> पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थात्, मार्ग के या रीति के अनुरूप माधुर्यादि गुणों का उदय, वक्रता अर्थात् वैचित्र्या-शयी अलंकारों का विन्यास और वृत्ति के औचित्य से मनोहर रस का परिपोष—ये बातें पारस्परिक स्पर्धा करती हुई शब्द और अर्थ दोनों में उचित रूप से विद्यमान हों ऐसी तद्विदों को आनन्द देने वाली कोई अलौकिक अवस्थिति साहित्य है।

साहित्य का माहात्म्य

पद, वाक्य, प्रमाण और साहित्य इन चारों का अर्थात् व्याकरण, मीमांसा, प्रमाण और साहित्यशास्त्र का प्रत्येक रचना में उपयोग होता है और अपने-अपने विषय में

उनका प्राधान्य होता है, फिर भी दूसरे विषयों में साहित्य गौणरूप में आता है। इतने पर भी वह अपने परिमल मात्र से उसको सुगन्धित कर देता है और अगर साहित्य की ऐसी सुगन्ध नहीं है तो उस रचना में रमणीयता का अभाव रहता है और उसकी रचना व्यर्थ जाती है। साहित्य के माहात्म्य से आगे बढ़ कर वह दूसरे चार अन्तःश्लोकों में कहता है :

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्॥ ३७॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम्॥ ३८॥
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
विना निर्जीवितां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥ ३९॥
यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते॥ ४०॥

अर्थात् अर्थ का विचार न करें तो भी केवल बन्ध के सौंदर्य की सम्पत्ति से ही जो तद्विदों के हृदय में संगीत के समान आनन्द उत्पन्न करते हैं, और वाक्यार्थ को समझ लेने पर तो पदवाक्यार्थ से पृथक् ही और उससे दूसरे छोर के पानकरस के आस्वाद के समान आस्वाद का जो सहृदयों को अनुभव कराता है, जिसके अभाव में रसिकों को वाक्य प्राणरहित लगता है, स्फुरण के अभाव में जीवित भी मृत जैसा लगता है और जिसके कारण तद्विदों को ही जिसका अनुभव होता है इस प्रकार को किसी अपूर्व सौभाग्य अर्थात् सौन्दर्य तक कवि-वाणी किस प्रकार पहुँचती है, अब हम इस पर विचार करेंगे।

वक्रता के छः प्रकार

काव्य को अलौकिक सौन्दर्य प्रदान करने वाला तत्त्व वक्रोक्ति है—अथवा कवि-व्यापार की वक्रता। इसके छः प्रकार हैं और उनके अनेक भेद हैं। वक्रता के छः प्रकार इस प्रकार हैं :

१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्द्धवक्रता, ३. प्रत्ययवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता, ६. प्रबन्धवक्रता।

१. वर्णविन्यासवक्रता वर्णों की व्यवस्था का सौन्दर्य है। इससे सम्बन्धित कुन्तक ने दूसरे उन्मेष में जो संकेत किये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। उसने कहा है कि वर्ण-विन्यास इस तरह करना है कि वह प्रस्तुत औचित्य से सुशोभित हो अर्थात् जिस वस्तु का निरूपण करना हो उसके लिए उचित कहे जाने वाले वर्णों से ही उसकी बुनाई होनी चाहिए। मात्र अनुप्रास के व्यसन के कारण प्रस्तुत औचित्य को धूमिल करने वाले वर्णों की योजना नहीं होनी चाहिए। जहाँ प्रस्तुत रस के लिए उपकारक हों वहाँ कठोर वर्णों की योजना करनी चाहिए। यहाँ उसके द्वारा दिये औचित्य पर बल द्रष्टव्य

है। उसने यह भी कहा है कि वर्णविन्यासवक्रता अत्यन्त आग्रह के साथ आयोजित नहीं होनी चाहिए। अति आग्रहपूर्वक अर्थात् व्यसन-लिप्त हो अथवा व्यसनिता से उक्त वक्रता की योजना नहीं की जानी चाहिए।

"व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्व-लक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।"

कारण, इस तरह करने से प्रस्तुत औचित्य का भंग होता है और वह शब्दार्थ के परस्परस्पर्धित्वरूप साहित्य के विरह में परिणत होता है। साथ ही, इस वक्रता की रचना रस-विरोधी कठोर वर्णों से भी नहीं की जानी चाहिए। पहले जिसकी आवृत्ति हो चुकी हो उसे छोड़ कर नये वर्णों की आवृत्ति से उसे मनोहर बनाना चाहिए। यमक आदि में प्रसाद गुण विशेष रूप से विद्यमान रहना चाहिए। श्रुतिकठोर वर्ण को टालना चाहिए और प्रस्तुतौचित्य को बनाये रखना चाहिए। उसने शब्दालंकारों को लेकर प्रस्तुतौचित्य और अयत्ननिर्वर्त्यता पर जो बल दिया है वह वस्तुतः सभी अलंकारों पर लागू पड़ता है।

२. पदपूर्वार्द्धवक्रता : प्रकृति और प्रत्यय मिल कर पद बनते हैं। यहाँ पर प्रकृति अर्थात् मूल शब्द की वक्रता की बात कही गयी है। उसके आठ प्रकारों को दिखा कर दूसरे उन्मेष में कुल दस प्रकारों का उल्लेख है।

३. प्रत्ययवक्रता में उसने काल, कारक, वचन, पुरुष, उपग्रह (आत्मनेपद-परस्मैपद) और प्रत्ययमाला की वक्रता की चर्चा की है।

४. वाक्यवक्रता में सभी अर्थालंकारों का समावेश हो जाता है। इसीलिए उसने कहा है कि वाक्यवक्रता तो अनन्त है; यहाँ उसने उदाहरण के रूप में रघुवंश के चौदहवें सर्ग के ६०वें श्लोक को उद्धृत किया है।

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात् सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती॥

लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ कर वापिस आते हैं उस समय राम के लिए सीता द्वारा प्रेषित संदेश का यह वाक्य है। इसका अर्थ है कि पहले जब लक्ष्मी तुम्हारी सेवा में उपस्थित हुई थी उस समय तुम उसका त्याग कर (उसे एक ओर हटा कर) मेरे साथ वन में आये थे। उस रोष के कारण आपके आश्रय को प्राप्त उससे यह नहीं सहा गया कि मैं तुम्हारे घर में रहूँ।

इसकी ध्वनि यह है कि दुःख में जिसे साथ रखी थी उसे राज-सम्पत्ति मिलते ही बिना किसी अपराध के कठोर गर्भावस्था में त्याग देना कितना उचित है, इस पर आप ही विचार करें।

५. प्रकरणवक्रता : प्रबन्ध के किसी एक भाग के रूप में किसी प्रसंग की वक्रता प्रकरणवक्रता है। इसमें उसने रामायण के एक प्रसंग की चर्चा की है। स्वर्ण मृग के वेश में उपस्थित मारीच को मारने गये हुए राम का करुण आक्रन्दन सुन कर घबरायी

हुई सीता ने, उनके प्राण बचाने के लिए, अपने जीवन की रक्षा की चिन्ता न करते हुए कठोर बचन कह कर लक्ष्मण को भेजा। वाल्मीकि ने ऐसा जो निरूपित किया है, वह बिलकुल अनुचित है। कारण, अनुचर के रूप में लक्ष्मण के पास होने पर भी मुख्य पात्र द्वारा इस प्रकार का काम किया जाना सम्भव नहीं है। विशेषतः तब राम को सभी प्रकार की अतिशयोक्ति से युक्त वर्णित किया गया है। अतः उसके प्राणों की रक्षा छोटा भाई करे यह सोचना ही अत्यन्त अनुचित है। इस पर विचार कर कवि ने 'उदात्त राघव' नामक नाटक में मायामृग को मारने के लिए गये हुए लक्ष्मण को बचाने के लिए सीता ने राम को भेजा था, इस तरह का निरूपण कर बहुत-सा वैदग्ध्य भर दिया है।

६. प्रबन्धवक्रता : किसी कवि द्वारा रचित राम की कथा-विषयक नाटकादि में पाँच प्रकार की वक्रता से सुन्दर सहृदयाह्लादकारी महापुरुष का वर्णन करने का ही उपक्रम प्रतीत होता है। वास्तव में तो ऐसा ही विधिनिषेधात्मक उपदेश ही परम अर्थ होता है कि 'राम के समान व्यवहार करो; रावण की भाँति नहीं।' इसे ही प्रबन्धवक्रता कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण प्रबन्ध की जो ध्वनि है वही प्रबन्ध की वक्रता है। इस सम्बन्ध में उसने चौथे उन्मेष के एक अन्तःश्लोक में कहा है कि कथाभाग का वर्णन समान होने पर भी शरीर में समान दिखायी देने वाले प्राणियों की भाँति अपने पृथक् गुणों के कारण काव्य, नाटक आदि प्रबन्ध अलग होते हैं।

कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
प्रबन्धाः प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक् ॥ ४२ ॥

बन्ध

कुन्तक की काव्य की परिभाषा से अब तक हम 'शब्दार्थौ', 'सहितौ' और 'वक्र-कविव्यापार' नामक पदों की व्याख्या देख आये हैं। वह अब 'बन्ध' की व्याख्या करता है :

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥ २२ ॥

इसका अर्थ यह है कि शब्द और अर्थ के सौभाग्य और लावण्य का परिपोषण करने वाला और काव्य-रचनारूप व्यापारवाला वाक्य-विन्यास ही बन्ध कहलाता है। इसमें उसके जिन दो गुणों का उल्लेख है उनके लक्षण इस प्रकार हैं : सौभाग्य का अर्थ है प्रतिभा के स्फुरण के परिणामस्वरूप जन्म लेने वाला चेतनचमत्कारित्व अर्थात् सहृदयों के चित्त को चमत्कार का अनुभव कराने की शक्ति और लावण्य ही सन्निवेश का सौन्दर्य है। अतः 'बन्ध' का अर्थ यह हुआ कि सहृदयों के चित्त को चमत्कार का अनुभव कराने वाली शक्ति और सन्निवेशसौंदर्य को पोषण देने वाला कविव्यापार-युक्त वाक्य का विन्यास।

तद्विदाह्लादकारित्व

अब व्याख्यान में एक ही शब्द की व्याख्या देनी शेष है और वह शब्द है 'तद्विदाह्लादकारित्व।'

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥ २३ ॥

अर्थात् शब्द, अर्थ और अलंकार इन तीनों से स्वरूप में पृथक् और अतिशय में लोकोत्तर किसी अनिर्वचनीय अर्थात् सहृदयों के हृदयों द्वारा अनुभूत आमोद अर्थात् रंजन करने की शक्ति के कारण जो सुन्दर तत्त्व है वह तद्विदाह्लादकारित्व है।

मार्ग

इस तरह काव्य को समझाने के बाद वह कहता है कि इस काव्य में तीन मार्ग सम्भव हैं : १. सुकुमार, २. विचित्र, और ३. उभयात्मक मध्यम।

उसने स्वयं इन तीन मार्गों का निर्देश किया है, अतः स्वभावतः ही पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा की गयी मार्गों की चर्चा के परामर्श का समय उपस्थित होता है और उसने ऐसा किया भी है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने देश के नाम के आधार पर तीन या दो रीतियाँ स्वीकार की थीं और उसने उन्हें उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन प्रकारों में विभक्त किया था। इन दोनों बातों का वह विरोध करता है। हम उसके अपने ही शब्द यहाँ देख रहे हैं।

"इस मामले में अनेक मतभेद होने सम्भव हैं। कारण, (वामनादि) पूर्ववर्ती आचार्यों ने विदर्भ आदि देशविशेष के आधार पर वैदर्भी आदि तीन रीतियों का उल्लेख किया है। साथ ही, उनके उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन प्रकार भी दिये हैं। (दण्डी आदि) दूसरे आचार्यों ने वैदर्भ और गौड़ीय नामक दो मार्ग गिनाये हैं। ये दोनों बातें युक्ति-संगत नहीं हैं। कारण, अगर देश-भेद से रीति-भेद स्वीकारें तो देश तो अनन्त हैं; अतः रीतियाँ भी असंख्य माननी पड़ेंगी। साथ ही, देश-धर्म के अनुसार मामा की लड़की से विवाह करने के समान ही अमुक ही काव्य रचे जायें, इस तरह की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि देश-धर्म तो मात्र वृद्धों की परम्परा पर आधृत होता है, अतः उसकी व्यवस्था करना असम्भव नहीं है, पर इस प्रकार की काव्य-रचना करना जो सहृदयों को आनन्द देने वाली शक्ति, व्युत्पत्ति आदि अनेक कारणों की अपेक्षा रखता है; अतः तत्सम्बन्धी इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

"दक्षिण के लोगों में जिस प्रकार संगीत के लिए अच्छा कण्ठ आदि होते हैं तदनुसार काव्य-शक्ति स्वाभाविक नहीं होती। अगर इस प्रकार होती तो सभी ने ही ऐसे काव्य रचे होते। इसके अलावा शक्ति होने पर भी व्युत्पत्ति आदि आहार्य (स्वयं प्राप्त की जाने वाली) कारण-सामग्री अमुक देश में पैदा होने भर से नहीं मिल जाती,

क्योंकि यह सामग्री किसी एक ही देश में होने का नियम नहीं है। उस देश में भी कितने ही लोगों के पास वह नहीं होती; अन्यथा वह भी दिखायी देता है।"

"साथ ही, यह भी उचित नहीं है कि रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम भेद किये जायें। कारण, सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाली काव्य-रचना में गौड़ी और पांचाली रीतियों में अगर वैदर्भी के समान सौन्दर्य सम्भव ही नहीं है तो मध्यम और अधम रीतियों का उपदेश देना व्यर्थ है। यदि इस तरह कहें कि इसका परिहार करने के लिए उसका उपदेश देना पड़ता है तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वामन भी यह नहीं कहता है। इसके अतिरिक्त दरिद्रों को यथाशक्ति दान देने के न्यायाधार पर यथाशक्ति जैसे बने वैसे काव्य की रचना करना भी उचित नहीं है। इस प्रकार हमारी आपत्ति देशविशेष के आधार पर नाम डालने से ही सम्बद्ध नहीं है पर जो दो रीतियाँ स्वीकार करते हैं उन पर भी यह दोष लागू होता है। अतः इस निस्सार वस्तु की चर्चा को बढ़ाने का कोई अर्थ नहीं है।"

कवि-स्वभाव-भेद के आधार पर मार्ग-भेद

"कवि के स्वभाव-भेद के कारण काव्यप्रस्थान-भेद मानना ही उचित है। सुकुमार स्वभाव के कवि में वैसी ही सहज शक्ति उद्भूत होती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान के बीच भेद नहीं होता। यह शक्ति अपने अनुरूप सौकुमार्य के कारण रमणीय व्युत्पत्ति प्राप्त करती है, और यह शक्ति और व्युत्पत्ति दोनों मिल कर कवि को सुकुमार मार्ग का अभ्यास करने में तत्पर बनाती हैं।"

इसी प्रकार विचित्र और मध्यम मार्ग के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

रीति की चर्चा में कुन्तक का महत्त्वपूर्ण योग-दान है। उसने रीति का मूल कवि-स्वभाव में बता कर इस चर्चा में कवि को केन्द्र में स्थापित किया है और जैसा उसका स्वभाव वैसी ही उसकी रीति के समान मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। पीटर का अत्यन्त प्रचलित वचन—'दि स्टाइल इज दि मैन', हम इस रूप में भी समझ सकते हैं।

अमुक रीति उत्तम और अमुक रीति अधम—इस प्रकार के भेद को भी वह नहीं स्वीकार करता और कहता है कि ये तीन स्वभाव वाले कवि सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक काव्य रचने में प्रवृत्त होते हैं और उनको इस तरह प्रवृत्त करने वाले ये मार्ग ही कहे जाते हैं।

वह स्वीकार करता है कि कवि-स्वभाव-भेद से मार्ग-भेद मान कर चलें तो अनन्त पृथक्-पृथक् मार्ग स्वीकार करने पड़ेंगे, फिर भी उन सभी की गणना करना असम्भव है, अतः सामान्यतः तीन ही मार्ग मानने उचित हैं।

"अगर अब रमणीय काव्य को स्वीकार करने की दृष्टि से देखें तो एक सुकुमार स्वभाव वाले काव्यों का समुदाय मानना पड़ेगा। इसके अलावा अ-रमणीय काव्य तो स्वीकार करने लायक ही नहीं हैं, अतः सुकुमार से भिन्न पर रमणीय काव्य का दूसरा वर्ग हो जाता है। यह विचित्र कहा जायगा। इन दोनों के रमणीय होने के

कारण इन दोनों की छाया जिनमें हो ऐसे उभयात्मक मध्यम वर्ग को भी रमणीयता से युक्त मानना ही युक्तिसंगत है। अतः इन तीनों में से प्रत्येक अपने निर्दोष स्वभाव के कारण तद्विदों को आह्लाद देने की पूरी शक्ति रखते हैं, इनमें कोई कमी नहीं है।"

यहाँ कुन्तक एक शंका उत्पन्न कर उसका निरसन करता है। शंका है कि यह तो समझा जा सकता है कि शक्ति अर्थात् प्रतिभा आन्तरिक होने के कारण उसके स्वभाव के साथ सम्बद्ध है, पर व्युत्पत्ति अर्थात् अभ्यास तो बाहर से प्राप्त होता है तो यह बात उस पर किस तरह से लागू होती है ? इसका उत्तर यह है कि 'अगर काव्य-रचना को एक तरफ रख दे तो भी दूसरी बातों में भी अनादि वासना के अभ्यास वाला कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति और अभ्यास धारण करता है और ये दोनों व्युत्पत्ति और अभ्यास—स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफल होते हैं। कारण, स्वभाव और इन दोनों के बीच उपकार्य और उपकारक का सम्बन्ध होता है अर्थात् स्वभाव इन दोनों को उत्पन्न करता है और ये दोनों स्वभाव को परिपुष्ट करते हैं। इससे अचेतन पदार्थों के स्वभाव भी अपने स्वभाव के अनुरूप दूसरे पदार्थों के सान्निध्य के प्रभाव से अभिव्यक्त होते हैं : जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि से चन्द्र की किरणों के स्पर्श मात्र से स्वभावतः पानी झरने लगता है।'

सुकुमार मार्ग

तदुपरान्त वह इन तीनों मार्गों का परिचय क्रमशः देता है। सबसे पहले वह सुकुमार मार्ग को लेता है।

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥ २५ ॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनः संवादसुन्दरः ॥ २६ ॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥ २७ ॥
यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥ २८ ॥
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥ २९ ॥

'अम्लान अर्थात् दोषरहित प्रतिभा से अंकुर के समान स्वयं फूट निकला हुआ, तद्विदों को आनन्द देने में समर्थ शब्दार्थ वाला, निरायास रचित स्वल्प और मनोहर अलंकार वाला, पदार्थों के स्वभाव ही जिसमें मुख्य हों अथवा व्युत्पत्तिजन्य आहार्य कौशल जिसके सम्मुख फीका लगता हो वैसा, रसादि के रहस्य को समझने वाले सहृदयों के मनःसंवाद के कारण सुन्दर, विचार या प्रयत्न के न होने पर भी स्वभावतः जिसमें पदादि की योजना इस प्रकार हुई हो कि उसके सौन्दर्य से रसिकों के मन का

रंजन होता हो वैसा, विधाता के कौशल से सिद्ध हुए निर्माण के अतिशय अर्थात् सुन्दर सृष्टि के समान, उसमें जो कुछ विचित्र हो वह सभी प्रतिभा में प्रकटित और सौकुमार्यमंडित हो वैसा, यह सुकुमार मार्ग है। इस मार्ग पर कुसुमित वन में होकर जिस तरह भ्रमर जाता है उसी प्रकार सत्कवि गये हैं।

इस वर्णन से लगता है कि सुकुमार मार्ग में जो कवि-कौशल होता है वह आहार्य नहीं होता, उसमें वस्तु-स्वभाव का प्राधान्य होता है अर्थात् उसमें जो कुछ भी वैचित्र्य होता है वह अनायास होता है। उसमें कवि की स्वाभाविक प्रतिभा अबाधरूप से प्रयुक्त होती दिखायी देती है और अभिव्यक्ति के अतिशय को सिद्ध करती है। उसमें ध्वनि तो होती ही है पर रस स्वभाव-निरूपण का अंग होकर रहता है। कुन्तक ने इस मार्ग के जो उदाहरण दिये हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

खिले हुए न होने के कारण बाल चन्द्र के समान टेढ़े और अत्यन्त लाल रंग के पलाश पुष्प, बसन्त के साथ जिसका अभी समागम हुआ है ऐसी वनस्थली के नखक्षतों जैसे सुशोभित होने लगे।—कुमारसंभव, ३-२९

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्॥

दूध पीने में मस्त छोटे-छोटे बच्चे हरिणियों के चलने में बारम्बार बाधा डालते थे और जिसके आगे गर्व से भरा हुआ मृग-मुखिया चल रहा था। ऐसी मुख में कुश धारण किये मृगों की टोलियाँ उसके सामने दिखायी दीं।—रघुवंश, ९-५।

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

जिसकी आँखें स्पर्श-सुख से बन्द हो गयी थीं ऐसी हरिणी को कृष्णसार (काला मृग) सींग से खुजलाता था।—कुमारसंभव, ३-३५।

इसके चार गुण

इस सुकुमार मार्ग के चार गुण हैं। एक माधुर्य अर्थात् समासहीन मनोहर पदविन्यास है। दूसरा प्रसाद अर्थात् ऐसा गुण जिससे वक्रोक्ति का अभिप्राय और रस बिना कष्ट के समझ में आ जाये और तुरन्त अर्थ की प्रतीति हो जाय। तीसरा लावण्य अर्थात् वर्णविन्यास की विच्छित्तियुक्त पद-योजना की स्वल्प सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाले बन्ध का सौन्दर्य;[१] और चौथा आभिजात्य अर्थात् श्रवण सुभग, चित्त को सुखद स्पर्श की भाँति स्पर्श करता हुआ स्वभावतः कोमल छायावाला गुण।

---

१. यहाँ कुन्तक ने स्वयं बन्ध-सौन्दर्य को लावण्य कहा है और आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान वस्तु की अंगना के लावण्य के साथ तुलना की है, इस विषय में जो थोड़ी चर्चा उसने की है उसे हम देखेंगे।

प्रश्न यह है कि कितनों ही ने, 'प्रतीयमान वस्तु ललना के लावण्य के समान होने के कारण लावण्य कही जाती है' का प्रतिपादन किया है, जिस प्रकार :

विचित्र मार्ग

तदनन्तर विचित्र मार्ग का लक्षण आता है।

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥ ३४ ॥
अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबन्धन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥ ३५ ॥
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ॥ ३६ ॥
यत्र तद्वदलङ्कारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तःस्थलङ्कार्यं प्रकाश्यते ॥ ३७ ॥
यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥ ३८ ॥
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथा-रुचि।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः ॥ ३९ ॥
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥ ४० ॥
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥ ४१ ॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ॥ ४२ ॥
सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथः ॥ ४३ ॥

'प्रतिभा के प्रथम प्रकाशन के समय में ही जिसमें शब्दार्थ के भीतर वक्रता चमक उठती है, जिसमें कविगण एक अलंकार के बाद दूसरे अलंकार को, पहले से संतुष्ट न होने के कारण, हार में मणिबन्ध की भाँति जोड़ते चलते हैं, जिसमें रत्नों की किरणों की छटा के बाहुल्य से चमकते हुए अलंकारों के द्वारा ढँका हुआ कान्ता का शरीर

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

तो फिर आप केवल बन्ध-सौन्दर्य को ही लावण्य क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में वह कहता है कि यह कोई दोष नहीं है। कारण, इस दृष्टान्त से तो इतना ही सिद्ध होता है कि वाच्यवाचक-रूप प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न रूप में प्रतीयमान वस्तु का अस्तित्व होता है, परन्तु इससे कहीं सभी पुरुषों के लोचनों द्वारा ग्रहण किये जाने वाला ललना का लावण्य और केवल सहृदयों से ही अनुभव की जानेवाली प्रतीयमान वस्तु, ये दोनों समान हैं, यह सिद्ध नहीं हो जाता। साथ ही, पद और पदार्थ से अनभिज्ञ का भी हृदय हर लेने वाले रस-सौष्ठव को ही लावण्य कहा जा सकता है। कहने का अभिप्राय है कि जिस प्रकार ललना का सौन्दर्य साधारण पुरुषों को भी

जिस प्रकार सुशोभित होता है उसी प्रकार चमकते हुए अलंकारों के द्वारा अपने शोभातिशय के भीतर छिपा अलंकार्य (रस) अपने रूप में प्रकट होता है, जिसमें अनूतन वर्ण्यविषय भी उक्तिवैचित्र्य मात्र से किसी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जिसमें कवि-प्रतिभा से असुन्दर वस्तु कवि-रुचि के अनुसार अलग ही (सौन्दर्ययुक्त) बन जाती है, जिसमें वाच्यवाचकवृत्ति से भिन्न वाक्यार्थ की प्रतीयमानता आयोजित की जाती है, जिसमें पदार्थों का सुन्दर अभिप्राय वाला स्वभाव किसी कमनीय वैचित्र्य के द्वारा वर्णित हुआ होता है, जिसमें वक्रोक्ति का वैचित्र्य जीवितरूप बन जाता है और उसमें किसी अपूर्व अतिशय का कथन हुआ होता है, इस प्रकार के दुःसंचर विचित्र मार्ग पर चल कर—तलवार की धार के मार्ग पर चल कर सुभटों के मनोरथों की भाँति विदग्ध कवि गये हैं।'

इस विचित्र मार्ग के वर्णन से समझ में आता है कि उसमें वक्रोक्तिवैचित्र्य प्रधान है और कवि-प्रयत्न इसे सिद्ध करने में लगा हुआ है। इसमें कला मुख्यतः अलंकार-प्रधान होती है और उसमें भणितिवैचित्र्य किसी अपूर्व उत्कर्ष को प्राप्त करता है। इसमें भी प्रतीयमानता तो होती ही है। सुकुमार मार्ग में पदार्थ के स्वभाव का वर्णन होता है जबकि इसमें स्वभाववर्णन रस के अभिप्रायानुसार किया जाता है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इसमें प्रतिभा के अतिरिक्त पुष्कल व्युत्पत्ति की भी आवश्यकता होती है।

उसके चार गुण

इस मार्ग के भी उपर्युक्त चार गुण हैं। पर उनकी व्याख्या अलग है। पहला गुण माधुर्य का है जिसका आशय है शैथिल्य का त्याग कर पदों का दृढ़ सन्निवेश। दूसरा प्रसाद गुण है; इसमें ओजगुण से संयुक्त पदों का समासरहित विन्यास होता है। इसमें एक वाक्य में दूसरे व्यंजक वाक्य पदों की भाँति ग्रथित कर दिये जाते हैं। तीसरा लावण्य है जिसमें समाविष्ट हैं ऐसे पद जिनमें विसर्ग का लोप न हो और संयोगपूर्व ह्रस्व स्वर का आगमन हो। चौथा आभिजात्य गुण है; इसमें न तो अत्यन्त कोमल और न अत्यन्त कठोर ऐसी प्रौढ़ियों से उत्पन्न गुणों का समावेश होता है।

इस मार्ग के भी हम दो-तीन उदाहरण देखें :

हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।

अनुभूत होता है उसी प्रकार काव्य का बन्ध-सौन्दर्य पदपदार्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ सामान्य मनुष्यों को भी श्रवण मात्र से अनुभवगोचर होता है। अतः बन्ध-सौन्दर्य को ही लावण्य कहना उचित है। प्रतीयमान अर्थ तो काव्य के मर्मज्ञों के लिए ही अनुभवगोचर होता है : जिस प्रकार कामिनी का सौभाग्य-सौन्दर्य उसके उपभोग करने वाले पात्र नायक को ही होता है, पर उसका लावण्य तो सत्कवियों की वाणी के सौन्दर्य की भाँति सभी मनुष्यों को अनुभवगोचर होता रहता है। यह पहले ही कहा जा चुका है; अतः यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

तृष्यत्पान्थयजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥

बड़ी आसानी से बोधिसत्त्व को पराजित करनेवाले हे बारिधि, मैं और क्या कहूँ? परहित करने का व्रत लेने वाला तेरे जैसा और कोई नहीं है। प्यासे पथिक से विमुख होकर जो कलंक पाया है उसका भार उठाने में तू मरुभूमि की सहायता करता है।

इसके सौन्दर्य को समझाता हुआ कुन्तक कहता है कि इस श्लोक में अत्यन्त निंद्य चरित्र वाले कृपण धनिक सम्बन्धी दूसरा अर्थ मन में रख कर उसके समान (पानी होने पर भी प्यासे के लिए व्यर्थ) समुद्र का वाच्य रूप में वर्णन किया गया है। यही अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का स्वरूप है। प्रतीयमान निंद्य कंजूस के दूसरे ही अर्थ में पर्यवसित वाक्य भी, आरम्भ से ही रमणीय रूप में रचित होने के कारण सहृदयों को आह्लाद देने वाला हो जाता है। इस प्रकार यह व्याजस्तुति जैसा दूसरा अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा के आभूषण के रूप में आया है। यहाँ संकरालंकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों अलंकार स्फुट रूप में पृथक्-पृथक् दिखायी देते हैं। यहाँ संसृष्टि भी नहीं है, क्योंकि दोनों के लिए प्रधानता समान नहीं है। दोनों वाच्यालंकार भी नहीं हैं, क्योंकि एक अर्थ वाच्य है और दूसरा प्रतीयमान है। इस तरह यहाँ एक अलंकार में दूसरा अलंकार गूँथा गया है।

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्दामोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः॥

यह क्या तारुण्य तरु की रसबाहुल्य से निकली हुई नयी वल्लरी है? या लीला से उछलते हुए लावण्यसिन्धु की यह लहर है? या अत्यंत उत्कंठित प्रेमियों को अपने सिद्धान्त सिखाने में तत्पर शृंगार के देव (कामदेव) की उपदेशयष्टि है?

इस श्लोक में रूपकालंकार है और उसके सौन्दर्य को अतिशय प्रकट करने के लिए संदेहालंकार वाली उक्ति आयोजित है, जो चमत्कार है।

मध्यम मार्ग

विचित्र मार्ग का निरूपण कर अब वह मध्यम मार्ग के निरूपण का उपक्रम करता है।

वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥ ४९ ॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥ ५० ॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥ ५१ ॥

अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥ ५२ ॥

"जिसमें वैचित्र्य और सौकुमार्य का मिश्रण हो, ये दोनों सहज और आहार्य सौन्दर्य से सुशोभित हों, जिसमें माधुर्यादि गुण मध्य वृत्ति का अनुसरण कर बन्ध के सौंदर्यातिशय को पुष्ट करते हों, जिसमें दोनों मार्ग की सम्पत्ति परस्परस्पर्धि रूप बनी हो, ऐसे इस मध्यम मार्ग को सुन्दर वेशभूषा के शौकीन किसी भुजंग के समान कोई सौंदर्यान्वेषण का व्यसनी कवि पसन्द करता है।"

इन तीनों के मार्ग से सम्बद्ध दो-तीन कवियों के नाम कुन्तक ने दिये हैं जिनके आधार पर हम दूसरे कवियों पर विचार कर सकते हैं। उसने कालिदास, सर्वसेन आदि को सुकुमार मार्ग का कवि माना है। बाणभट्ट के हर्षचरित को और भवभूति, राजशेखर आदि द्वारा रचित मुक्तकों को विचित्र मार्ग के काव्य माने हैं। इसी प्रकार उसने मातृगुप्त, मायुराज, मंजीर आदि को मध्यम मार्ग के कवि स्वीकारे हैं।

औचित्य

इस तरह तीन मार्ग और उनके चार-चार गुणों की चर्चा करने के बाद वह दूसरे दो गुणों का उल्लेख करता है जो उक्त तीनों मार्गों के लिए आवश्यक हैं। इनमें पहला गुण औचित्य का है। कथन के वैचित्र्य से वस्तु-स्वभाव के उत्कर्ष को यह स्पष्ट रूप से पुष्ट करता है और स्वभाव का औचित्यपूर्ण कथन ही उसका जीवित है। जिसमें वक्ता या श्रोता के स्वभाव से शोभातिशययुक्त वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती है, वही औचित्य है।

उदाहरणस्वरूप उसने निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन् आभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥—(रघुवंश, ५-१५)

हे राजन्, सत्पात्र को अपनी सम्पत्ति का दान करके केवल शरीर से स्थित आप, आरण्यकों ने जिसके सब कण ले लिये हैं ऐसे नीवार के ठूँठ की तरह दीखते हैं।

इस श्लोक में दानवीर राजा के स्वभाव का वर्णन करने के लिए मुनि ने अपने अनुभव-क्षेत्र से नीवार के पौधे की उपमा दी है। यहाँ वक्ता के स्वभाव से वाच्यार्थ का स्वभाव आच्छादित हो गया है।

सौभाग्य

दूसरा गुण सौभाग्य है। यह गुण काव्य-रचना की समग्र सामग्री—कवि-प्रतिभा, शब्द-सामर्थ्य, अर्थ-सामर्थ्य, गुण और वक्रता—के सहयोग से सिद्ध होता है, यह सहृदयों के चित्त को अलौकिक आनन्द का अनुभव कराता है और यही काव्य का एक मात्र जीवित है। ये दोनों गुण तीनों ही मार्ग के काव्यों में पद, वाक्य और प्रबन्ध तीनों में व्यापक रूप से अर्थात् प्रत्येक अवयव में व्याप्त होकर विद्यमान रहते हैं। पदौचित्य अर्थात् पद की नाना प्रकार की वक्रता। स्वभाव का स्पष्टतः वर्णन

करना ही वक्रता का परम रहस्य है। औचित्यपूर्ण कथन ही जीवित रूप होने के कारण वाक्य के किसी एक अंश में भी अगर औचित्य का अभाव हो तो उससे तद्विदाह्लादकारित्व को हानि पहुँचती है, यह कर उसने कितने ही उदाहरणों की चर्चा की है जो दर्शनीय है।

पहला उदाहरण रघुवंश से लिया गया है। राम लंका-विजय के बाद पुष्पक विमान में आरूढ़ हो अयोध्या जाते हुए रास्ते में आने वाले विविध स्थान बताते हैं, उसमें निषादराज का स्थान आते ही उसका परिचय देते हुए वे सीता से कहते हैं :

पुरं निषादाधिपतेस्तदेतद् यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्र कैकेयि कामाः फलितास्तवेति॥

—रघुवंश, १३-५८

"यह निषादराज की नगरी है जहाँ मौलिमणि को उतार कर मेरे द्वारा जटा बाँधे जाते समय सुमंत्र ने रोते-रोते कहा था कि "हे कैकेयी, तेरे मनोरथ सिद्ध हुए !"

यहाँ रघुपति मान्य महापुरुष के रूप में वर्णित हैं, अतः वे रामचन्द्र 'कैकेयी तेरे मनोरथ सिद्ध हुए' इस प्रकार के तुच्छ वचन याद रखें और अब उन्हें पुनः कहें यह अत्यन्त अनुचित लगता है।

इसी प्रकार का दोष उसी काव्य में दिलीप और सिंह के संवाद में दिखायी देता है। सिंह कहता है :

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् विभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः॥

—रघुवंश, २-४९

"अगर एक गाय के रक्षण करने में असफल होने के अपराध के कारण क्रोधाग्नि से सुलगे हुए गुरु से तू डरता है तो तू इस क्रोध को घड़े के समान स्तनोंवाली करोड़ों गाय दे कर शमित कर सकने में समर्थ है।"

सिंह तो राजा का उपहास करता है अतः वह ऐसा कहे तो उचित है पर राजा इसका जो उत्तर देता है वह अपने यश-रक्षण में जीवन को तृणवत् मानने वाले के लिए उचित नहीं है। राजा इस प्रकार कहता है :

कथं च शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनादन्यपयस्विनीनाम्।
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥

—रघुवंश, २-५४

"दूसरी गायें देने से मुनि का क्रोध किस प्रकार शमित हो सकता है ? कारण, यह तो कामधेनु की पुत्री है", आदि। अगर दूसरी गायों को इसके बदले दिया जा सकता है, यह मान लें तो कदाचित् मुनि और मेरे द्वारा इसकी प्राण-रक्षा की उपेक्षा करना उचित माना गया होता। यही इसका फलितार्थ है, जो अनुचित है।

तीसरा उदाहरण कुन्तक ने कुमारसंभव से दिया है। कामदेव इन्द्र के सम्मुख अपनी शक्ति का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता है। उसमें एक स्थान पर कहता है :

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥

'सौन्दर्य के कारण तेरे चंचल मन में प्रविष्ट पर पतिव्रत के कारण तेरे वश में न आने वाली कौन-सी पतिव्रता है जिससे तू यह चाहता है कि वह अपनी लज्जा छोड़ कर तेरे गले लग जाय।'—कुमारसंभव, ३-८।

स्वर्ग के अधिपति-पद पर प्रतिष्ठित इन्द्र की भी ऐसी इच्छा पूरी करने में संकेतित किसी पतिव्रता के पतिव्रत का नाश करने के अविनयी आचरण का कथन अत्यन्त अनौचित्यपूर्ण लगता है।

इस अनौचित्य के उदाहरण को दे कर और उसकी चर्चा करने के बाद वह जोड़ता हुआ कहता है कि ऐसी चर्चा तो कालिदास जैसे कवियों के मामले में ही हो सकती है कि जिसकी सूक्तियों का स्वाभाविक सौन्दर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा वाला होता है। जो केवल आहार्य अर्थात् व्युत्पत्तिसिद्धि काव्य-रचना-कौशल को ले कर प्रशंसाप्राप्त होते हैं उन कवियों के बारे में इस तरह की चर्चा नहीं हो सकती। सुकुमार मार्ग के कवि के लिए यह कितनी बड़ी अंजलि है।

औचित्य जिस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग के लिए आवश्यक है उसी प्रकार सौभाग्य भी प्रत्येक अंग के लिए आवश्यक है :

सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारिसंवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमति प्रसंगेन॥ ५७॥

यहाँ मैं कुन्तक के ग्रंथ के प्रथम उन्मेष का परिचय पूरा करता हूँ। इसमें उसकी सम्पूर्ण काव्य-चिन्ता का चित्र आ जाता है। तदुपरान्त वह दूसरे उन्मेष में वर्णविन्यास-वक्रता के छः प्रकारों का सोदाहरण उल्लेख करता है। जिस प्रकार एक, दो या अधिक वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर पर आकर बारम्बार रखे गये हों तो ये वर्णविन्यासवक्रता के पहले तीन प्रकार हुए। चौथा प्रकार अर्थात् अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त स्पर्श वर्णों की आवृत्ति। ५. दुहरे त, ल, न की आवृत्ति। ६. इसके अलावा वर्णों की रेफ आदि से युक्त रूप में आवृत्ति। यहाँ कुन्तक ने इतनी स्पष्टता की है कि अगर आवृत्ति के बीच अन्तर न हो तो भी स्वरों के भेद से वक्रता सिद्ध होती है। इसके बाद वह पदपूर्वार्द्धवक्रता के १. रुढ़िवैचित्र्यवक्रता [(अ) असम्भाव्य धर्मारोप; (आ) सद्धर्मातिशयारोप]; २. पर्यायवक्रता; ३. उपचारवक्रता; ४. विशेषणवक्रता; ५. संवृतिवक्रता; ६. पदमध्यवर्तीवक्रता; ७. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता; ८. भाववैचित्र्यवक्रता; ९. लिंगवक्रता; १०. क्रियावैचित्र्यवक्रता के पाँच प्रकारों का निरूपण कर पदपरार्द्ध-

वक्रता के १. कालवैचित्र्यवक्रता; २. कारकवक्रता; ३. संख्यावक्रता; ४. पुरुषवक्रता; ५. उपग्रह [परस्मैपदी, आत्मनेपदी] वक्रता; ६. प्रत्ययवक्रता; ७. उपसर्गनिपात-वैचित्र्यवक्रता का सोदाहरण निरूपण करता है।

वस्तुवक्रता

तीसरे उन्मेष में वाक्यवक्रता का निरूपण करने से पहले पदार्थ अथवा वाच्य या वस्तुवक्रता का निरूपण करता है। वस्तुवक्रता की व्याख्या वह इस प्रकार देता है : अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्मयुक्त रूप में वस्तु-वर्णन वस्तुवक्रता है।

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥ ३-१ ॥

यहाँ स्वयं 'वक्रशब्दैकगोचरत्वेन' कहा है; वाच्यत्वेन नहीं कहा। इसमें निहित आशय को समझाता हुआ वह वृत्ति में कहता है : "यहाँ 'वाच्यत्वेन' नहीं कहा गया है, क्योंकि व्यंग्यत्व से भी प्रतिपादन सम्भव है" और यह उसे इष्ट भी है। यहाँ वह एक चेतावनी भी देता है कि वस्तु-स्वभाव के सौकुमार्यवर्णन में उपमा आदि वाच्यालंकारों का अधिक उपयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि इनसे स्वभावसौकुमार्य का अतिशय फीका पड़ जाता है।

यहाँ कुन्तक ने पुनः स्वभावोक्ति से सम्बन्धित चर्चा उठायी है। उसे भी हम देखते चलें। ऊपर कुन्तक ने यह कहा है कि वस्तु के स्वभाव-वर्णन में उपमादि वाच्यालंकारों से स्वभाव-सौन्दर्य के फीके पड़ जाने का भय रहता है; उसे लेकर शायद कोई इस प्रकार का प्रश्न उठाये कि आप जिसे वस्तु का स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन कहते हैं, जिसे आप वस्तुवक्रता अथवा वाच्यवक्रता कहते हैं, उसे ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने सहृदयाह्लादकारी स्वभावोक्ति अलंकार कहा है। तो फिर आप यह क्यों कहते हैं कि वस्तु के स्वभाववर्णन में वाच्यालंकारों का अधिक उपयोग वस्तु-सौन्दर्य को फीका बनाने वाला हो सकता है ? यहाँ अलंकार्य तो वस्तु का सामान्य धर्म मात्र है और इस धर्म का जो अतिशय बताया गया है, वह अलंकार रूप में प्रतीत होता है और स्वभावोक्ति भी वस्तु के स्वभाव-अतिशय का ही परिपोषण करती है; अतः स्वभावोक्ति को अलंकार ही मानना चाहिए और इस प्रकार देखने से वाच्यालंकार वस्तु के सौन्दर्य को फीका बना दें, यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।

इसके उत्तर में कुन्तक यह कहता है कि आप जो यह कहते हैं कि वस्तु का सामान्य धर्म मात्र 'अलंकार्य' होता है और उसके अतिशययुक्त स्वभाव का वर्णन 'स्वभावोक्ति अलंकार' होता है, अतः स्वभावोक्ति अथवा वस्तुवक्रता अलंकार रूप में ही होने के कारण रूपकादि अलंकारों द्वारा उसके सौन्दर्य के फीके होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता—यह ठीक नहीं है। इस तरह की बात मानने में दो दोष हैं :

एक तो यह कि काव्य-रचना अपरिहार्य की भाँति जैसे-तैसे निबटा देने की वस्तु नहीं है, क्योंकि काव्य का लक्षण ही यह है कि उसे तद्विदाह्लादकारी होना चाहिए।

इसका अर्थ कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु के किसी भी सामान्यतः चर्चित, अचमत्कारपूर्ण धर्म का वर्णन करना काव्य का काम नहीं है। काव्य को तो तद्विदाह्लाद-कारी धर्म का वर्णन करना है। जब कि आप तो कहते हैं कि काव्य का वर्ण्य विषय वस्तु का सामान्य धर्म है। यदि ऐसा है तो काव्य तद्विदाह्लादकारी हो ही नहीं सकता जो पहला दोष है।

दूसरी कठिनाई यह है कि अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त वर्ण्य पदार्थ को अगर आप अलंकृत करें तो वह दीवार पर चित्रित चित्र की भाँति शोभाजनक नहीं होगा। गदहे पर अम्बारी शोभा नहीं देती। इसलिए मेरा कहना तो यह है कि अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्मयुक्त वस्तु ही वर्णन के लिए पसन्द करनी चाहिए और उसे यथायोग्य औचित्य-पूर्वक रूपकादि अलंकारों से सुशोभित करना चाहिए। पर, अतिरिक्त रूप में इतना कहना चाहिए कि जब कवि वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य ही वर्णित करना चाहता है तब अधिक अलंकार उपकारक नहीं होते; क्योंकि अधिक अलंकारों के कारण वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य अथवा रसादि परिपोषण के ढँक जाने का भय रहता है। जिस तरह विलासवती स्त्री को स्नान के समय, विरहव्रत धारण किये हो उस समय अथवा सुरतावसान के समय अधिक अलंकार शोभा नहीं देते उसी प्रकार ऐसे प्रसंगों में अलंकार्य को अधिक अलंकार शोभा नहीं देते। कारण, स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिकों के हृदय को आनन्द देता है। यहाँ वह कुमारसंभव से एक श्लोक उद्धृत करता है:

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम् क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः॥

—कुमारसंभव, ७-१३

शिव-पार्वती के विवाहोपरान्त पति मिलन के लिए पार्वती को सजाने आयी स्त्रियाँ उसे सामने बैठा कर और प्रसाधन सामग्री पास होने पर भी पार्वती की स्वाभाविक शोभा से दृष्टि आकर्षित होने के कारण क्षण भर तो इसी विचार में बैठी रहीं कि इसे सजाने की क्या आवश्यकता है?

यहाँ कवि का अभिप्राय ऐसे सौकुमार्य से मनोहर शोभा के अतिशय का प्रति-पादन करना है। और उसे अलंकार पहरा देने से शायद उसका स्वाभाविक सौन्दर्य ढँक जायेगा, ऐसी शंका की सम्भावना उन स्त्रियों के बैठे रहने का कारण है। कारण, जिस वस्तु के सौन्दर्यातिशय का वर्णन करना हो उसके स्वभाव से सम्बद्ध सहज सौन्दर्य को ढँक देने वाले और अन्य धर्मों की प्रतीति की अपेक्षा रखने वाले अलंकारों की रचना उपकारक नहीं होती।

इसके अलावा रस पोषण के कारण सुकुमार प्रतीति को विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के औचित्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार उपस्थित करने की चेष्टा प्रस्तुत वस्तु अथवा रस में बाधक बन जायेगी। यौवन में प्रवेश करती हुई तरुणी आदि ऐसे सुकुमार पदार्थ हैं कि उनका प्रतिपादन करनेवाली वाच्यवक्रता के अतिरिक्त

किन्हीं अन्य अलंकारों से उन्हें सजाया नहीं जाता''और कदाचित् अलंकार आयोजित किये जाते हैं तो वे स्वाभाविक सौकुमार्य को अच्छे ढंग से प्रकट करने के लिए होते हैं, न कि अलंकारवैचित्र्य सिद्ध करने के लिए। अगर किसी अतिशयविहीन धर्मवाली वस्तु को सजायें तो वह पिशाच की भाँति तद्विदाह्लादकारी न होने के कारण अनुपादेय ही रहेगी।

अथवा प्रस्तुत औचित्य के कारण मुख्यतः वस्तु का स्वभाव ही अतिशयोक्ति रूप में वर्णित होने की वजह से दूसरे अलंकार को सहन नहीं करता, कारण, वह स्वयं ही अत्यन्त शोभाशाली होने के कारण अलंकार्य होता है; फिर भी उसे अलंकार कहते हो तो यह तो हमारा ही पक्ष हुआ। इनके अतिरिक्त अलंकारों को अलंकार कहने में हमारी आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार कवि की सहज प्रतिभा से प्रकटित वस्तु के स्वभाव का सुन्दर वर्णन प्रथम प्रकार की वस्तुवक्रता है। दूसरे प्रकार की वस्तुवक्रता कवि के स्वाभाविक और आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रकटित कवि-कौशल से सिद्ध होती है। ऐसी रचना अपूर्व कल्पना के कारण लोकातिक्रान्तगोचर बन जाती है। इसका अर्थ यह है कि कवि जहाँ कुछ भी वर्णन करने योग्य पदार्थ न हो वहाँ भी नवीन उत्पन्न नहीं करता। वह तो केवल सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थों में ऐसी कुछ विशेषता प्रदान करता है जिससे वह सहृदयहृदयाह्लादकारी रमणीयता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थों में किसी अलौकिक शोभातिशय उत्पन्न करने वाले सौन्दर्य का कथन किया जाता है जिससे उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप आच्छादित हो जाता है और अपूर्व सौन्दर्य से मन को हरण करने वाले और अपने ही तेज से जगमगाते हुए रूप में उसी समय प्रतीत होने वाले वर्णनीय पदार्थ के स्वभाव का सौन्दर्य प्रकट होता है। इसीलिए वह कवि को विधाता कहता है। यह दूसरे प्रकार की आहार्यवक्रता अलंकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः उसके अनेक भेद होते हैं।

एक उदाहरण दे कर वह बात स्पष्ट करता है।

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
> वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

इसे रचने में क्या कान्ति देने वाला चन्द्र अथवा केवल शृंगार-रसमय मदन अथवा पुष्पाकर वसन्त स्वयं ब्रह्मा हो गया था? कारण, वेदाभ्यास से जड़ीभूत और विषयों से विमुख वृद्ध मुनि तो ऐसे सुन्दर रूप की रचना करने में कैसे समर्थ होगा?

यहाँ कान्ता के असीम कान्तिमत्व, असीम विलास-सम्पत्ति की पात्रता, सरसता, लोकोत्तर सौन्दर्य और सुकुमारता को प्रतिपादन करने के लिए उस स्वभाव के प्राधान्य

के कारण उचित सम्भावना का अनुमान कर के पृथक्-पृथक् अपूर्व निर्माण की उत्प्रेक्षा की है। अर्थात् शान्ति के लिए कान्तिदाता चन्द्र की, असीम विलास-सम्पत्ति के लिए उसके आश्रयभूत कामदेव की और सरसता, असामान्य सौन्दर्य और सुकुमारता के लिए उनके कारणभूत वसन्त की ब्रह्मा के रूप में कल्पना की है। अर्थात् चन्द्र की रचना होने के कारण उसमें कान्तिमत्व, कामदेव की रचना होने के कारण असीम विलास-सम्पत्ति तथा सरसता और सुकुमारता वसन्त की रचना होने के कारण असामान्य सुकुमारता और सौष्ठव का होना सम्भव है। इसलिए इन तीनों की ब्रह्म-रूप में उत्प्रेक्षा की है और इन तीनों के साथ प्रयुक्त विशेषणों के साथ 'स्वयं' शब्द का योजित सम्बन्ध इसी बात को स्पष्ट करता है। जो चन्द्रमा स्वयं मनोहर कान्ति वाला है वह अपने सौजन्य के कारण अरोचकी अर्थात् जिसे असुन्दर वस्तु पसन्द नहीं है ऐसा होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उसमें सुन्दर वस्तु निर्माण करने की निपुणता हो, जो स्वयं ही केवल शृंगार रसरूप है अपनी रसिकता के कारण यह सर्वथा उचित है कि वह सरस वस्तु निर्माण करने की कुशलता रखता हो; जो स्वयं ही पुष्पाकर है अपने आभिजात्य के कारण यह उचित है कि वह ऐसी सुकुमार वस्तु का ही सर्जन करे। इसलिए श्लोक के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त विशेषण से व्यतिरेक द्वारा, कान्तिमत्व आदि गुण किसी अन्य रूप में सम्भव नहीं है, यह बतलाया गया है। कारण, ब्रह्मा तो वेदाभ्यास के कारण जड़ बन जाने से कान्तिमय वस्तु की रचना करने में अनभिज्ञ है, विषयों के प्रति कौतूहल न होने के कारण सरस पदार्थों की रचना करने में विमुख होता हुआ और वृद्ध होने के कारण सुकुमारता तथा सरसता की रचना से पराङ्गमुख होता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार, कवियों ने अपने वर्ण्य विषय को अलौकिक विशेषता प्रदान करने के लिए उत्प्रेक्षा अलंकार का आश्रय लिया है, और यह विशेषता स्वयं अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण तथा इस अलंकार की सहायता से वर्णनीय विषय को महिमा-मण्डित करने के लिए सन्देहालंकार का साथ ग्रहण करती है। अतः नायिका की सुन्दरता स्पष्ट होती है। इस तरह कवि ने यहाँ नायिका के सौन्दर्य में किसी लोकोत्तर विशेषता का निर्माण किया है जो लोकोत्तर निर्माता की ही निर्मिति हो सकती है और इसलिए ऐसा लगता है मानो वह पहली ही बार निर्मित हुई है।

पर कितनी ही बार कवि काल्पनिक वस्तुओं का वर्णन करते हैं, उस समय वस्तु का स्वरूप नहीं पर उसका अपूर्व सम्बन्ध कवि का वर्ण्य-विषय होता है और यह अलंकार द्वारा ही हो सकता है। इसके उदाहरण के रूप में कुन्तक निम्न श्लोक उद्धृत करता है :

कस्त्वं भो दिवि मालिकोऽहमिह किं पुष्पार्थमभ्यागतः
किं ते सूनमहक्रयो यदि महच्चित्र तदाकर्ण्यताम्।
सङ्ग्रामेष्वलभाभिधाननृपतौ दिव्याङ्गनाभिः स्रजः
प्रोज्झन्तीभिरविद्यमानकुसुमं यस्मात्कृतं नन्दनम्॥

अरे भाई, तू कौन है ?
मैं स्वर्ग का माली हूँ।
यहाँ क्यों ?
फूल खरीदने आया हूँ।
तुझे फूल खरीदने की क्या जरूरत ?
तुम्हें अगर बहुत आश्चर्य होता हो तो सुनो। युद्ध में किसी अज्ञात नाम वाले राजा पर मालाओं की वर्षा करती हुई स्वर्ग की अप्सराओं ने नन्दनवन को पुष्परहित कर दिया है, अतः मुझे यहाँ आना पड़ा है।

ऐसे उदाहरणों में वर्णनीय वस्तु का विशेष अतिशय सिद्ध करने के लिए अलंकार-योजना करनी पड़ती है। जिस प्रकार इस उदाहरण में अलंकार की कल्पना के बगैर किसी भी ढंग से वाक्यार्थ की संगति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार के कल्पित विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वस्तु की उपपत्ति स्थापित नहीं की जा सकती, अतः स्वाभाविक वस्तु (स्वर्ग का माली यहाँ फूल खरीदने आए ऐसा वर्णनीय विषय) यहाँ धर्मी के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता। इसलिए विदग्ध कवि की प्रतिभा के द्वारा प्रयुक्त अलंकार का विषय होने के कारण ही वह सहृदयहृदयाह्लादकारी बनता है।[1] इस प्रकार इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अप्रस्तुतप्रशंसा के सम्बन्ध के कारण वर्ण्यमान राजा के प्रताप के अतिशय को विशेष मनोहर रूप में परिपुष्ट कर स्वयं अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रकट हो, सहृदयों के हृदयों को आकृष्ट करती है। इस तरह ही कवि-प्रतिभा द्वारा उत्प्रेक्षित अत्यन्त असम्भव पदार्थों का वर्णन भी संगत लगता है—स्वतन्त्ररूप से संगत नहीं लगता।[2]

वाक्यवक्रता

इस तरह अर्थ की दो प्रकार की वक्रता का वर्णन करने के पश्चात् वह वाक्य की वक्रता का उपक्रम करता है और उसका लक्षण इस प्रकार देता है :

मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसम्पदः
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितजीवितम् ॥३॥
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥४॥

इसका अर्थ यह है कि सुकुमार, विचित्र आदि मार्ग में प्रयुक्त शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार की सौन्दर्य-सम्पत्ति से पृथक् इस ढंग से कहना यही जिसका प्राण है ऐसी वाक्य की वक्रता पृथक् ही होती है। सुन्दर फलक पर चित्रित चित्र के रंगों के

---

१. विदग्धकविप्रतिभोल्लिखितालङ्करणगोचरत्वेनैव सहृदयहृदयाह्लादमादधति ।

२. कविप्रतिभोत्प्रेक्षितत्वेन चात्यन्तमसम्भाव्यमानमनयैव युक्त्या समञ्जसतां गाहते, न पुनः स्वातन्त्र्येण ।

इन दोनों ही स्थानों पर उसके द्वारा प्रतिभा पर दिया गया बल द्रष्टव्य है।

सौन्दर्य से पृथक् ही चित्रकार के मनोहारी अनिर्वचनीय कौशल के समान काव्यकर्ता का कोई अनिर्वचनीय कौशल ही वाक्यवक्रता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चित्र के फलक, आलेखन, वर्ण, छाया आदि सभी उपकरणों से अलग और चित्र में प्रस्तुत प्रकृत पदार्थों के जीवनरूप पृथकशः मुख्यतः प्रतीत होता है उसी प्रकार शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार, मार्ग आदि पदार्थों से अलग, काव्य में वर्णित प्रस्तुत पदार्थों के जीवनरूप सहृदयसंवेद्य कविकौशलरूप वक्रत्व वाक्य में प्रतीत होता है।

वह आगे चल कर कहता है कि यद्यपि रस, स्वभाव, अलंकार इन सभी का जीवित कवि-कौशल है तथापि अलंकार का तो यह विशेष रूप में जीवित है। कारण, इसके अभाव में अलंकार में तद्विदाह्लादकारित्व का लेश मात्र समावेश नहीं हो सकता।

यहाँ हम देख सकते हैं कि कुन्तक कवि-कौशल को कितना अधिक महत्त्व देता है।

तदुपरान्त वह वर्ण्य विषय के दो प्रकार करता है : १. चेतन और २. अचेतन। इसमें भी चेतन के दो भेद हैं : १. मुख्य चेतन—देव, मानव आदि, और गौण चेतन—सिंह, मृग आदि। इनमें से मुख्य चेतन पदार्थों का वर्णन रत्यादि रस के पोषणवाला और सम्बद्ध जाति के स्वभाव के वर्णन से युक्त होता है। गौण चेतन पदार्थों का और जड़ पदार्थों का भी वर्णन मुख्यतः रस के उद्दीपन विभाव के रूप में किया जाता है।

पदार्थों का वर्णन दो रूपों में किया जाता है—स्वभावप्राधान्य से और रसप्राधान्य से। दोनों अलंकार्य ही हैं। पदार्थ का स्वाभाविक स्वरूप अलंकार नहीं हो सकता—यह पहले बता दिया जा चुका है। मुख्य चेतन पदार्थों का रसप्रधान स्वरूप भी अलंकार्य ही है, यह कह कर वह रसवत् अलंकारों का खण्डन करता है। उसका तर्क यह है कि रसवत् अलंकार में, जिस प्रकार दूसरे अलंकारों में होता है, अलंकार्य और अलंकरण नामक दो पृथक् वस्तुएँ प्रतीत नहीं होतीं।

उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' (४-४) में रसवदलंकार की व्याख्या में रस को स्वशब्दनिष्ठ भी कहा है। उसकी टीका करते हुए उपहासपूर्वक कुन्तक कहता है : रस स्वशब्दनिष्ठ है, ऐसा तो हमने आज तक नहीं सुना। इसलिए रस पर समग्रतः एकचित्त होकर विचार करने वाले और उसके परम अर्थ को जानने वाले विद्वानों से यह पूछना चाहिए कि स्वशब्दनिष्ठत्व किसका होता है? रस का या रसवदलंकार का? अगर पहला विकल्प स्वीकार किया जाता है तो यह कहना है कि 'जिसका आस्वाद लिया जाय वह रस'—यह रस की व्याख्या है, अतः 'रस स्वशब्द-निष्ठ हैं' कहने पर इसका अर्थ यह होता है कि शृंगार आदि रस-शृंगार आदि शब्द में ही निहित हैं और जिस किसी को इस शब्द का ज्ञान होता है, उसे उसका आस्वाद भी मिलता है। आशय है कि शृंगारादि रसों को स्वशब्द से उल्लिखित होते सुन कर सहृदयों को उसके आस्वाद का आनन्द प्राप्त होता है। इस न्याय के अनुसार तो

घेवर आदि पदार्थों के नाम लेने मात्र से उसके आस्वाद का आनन्द मिल जाता है; अतः इन उदारचित्त महापुरुषों ने किसी भी सुख के उपभोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी के लिए नाम मात्र लेने से त्र्यैलोक्य के राज्य की प्राप्ति तक के सभी सुख बिना मेहनत प्राप्त करवा दिये हैं। नमस्कार है उन महात्माओं को !

'इति अनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानास्तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्तीत्येवं सर्वस्वं कस्यचिदुपभोगसुखार्थिनस्तैरुदारचरितैरयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्र्यैलोकराज्यसम्पत्सौख्यसमृद्धिः प्रतिपाद्यते इति नतस्तेभ्यः।'

इस प्रकार तीसरे उन्मेष में कुन्तक रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी, उदात्त और समाहित आदि का खण्डन कर दूसरे लगभग पच्चीस अलंकारों का निरूपण करता है। भामह की ही कारिका उद्धृत कर उसने हेतु, लेश और सूक्ष्म अलंकारों को भी अस्वीकृत कर दिया है और अन्त में स्वीकार किया है कि इनके अलावा दूसरे आलंकारिकों के द्वारा स्वीकृत अलंकारों में शोभा का अभाव होने के कारण अथवा उनका दूसरे अलंकारों में समावेश हो सकने के कारण वे उसके द्वारा अस्वीकृत किये गये हैं।

भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलङ्कारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मनाक्॥

उक्त अलंकार-चर्चा के भाग में ग्रन्थ का पाठ अनेक स्थानों पर खण्डित और भ्रष्ट है अतः अर्थ करने में कठिनाई होती है।

प्रकरणवक्रता

चौथे उन्मेष के पाठ भी अनेक स्थलों पर खण्डित और भ्रष्ट है फिर भी उसमें से प्रकरणवक्रता के नौ प्रकार प्राप्त होते हैं : १. पात्रप्रवृत्तिवक्रता—जिसमें पात्रों के अदम्य साहस के कारण संवाद में चमत्कार उत्पन्न हुआ होता है। २. उत्पाद्यवक्रता—जिसमें किसी प्रसिद्ध वस्तु में नई उत्पाद्य कथा जोड़ कर वक्रता सिद्ध की गयी है। ३. उपकार्योपकारवक्रता—जिसमें नाटक या प्रबन्ध के किसी एक अंश पर दूसरा अंश प्रभाव डालता है, यथा—'उत्तररामचरित' में चित्र-दर्शन में जिसका उल्लेख है वह जृम्भकाओं का प्रभाव पाँचवें अंक में लवकुश-युद्ध में दिखायी देता है और सीता के पुत्र के रूप में लव को पहचानने में भी सहायता करता है। ४. आवृत्तिवक्रता—जिसमें एक ही वस्तु का बारम्बार वर्णन होने के पश्चात् भी हर बार नया ही प्रतीत होता है। ५. प्रासंगिकप्रकरणवक्रता—इसमें जल-क्रीड़ा वर्णन आदि से सौन्दर्य सिद्ध किया जाता है। ६. प्रकरणरसवक्रता—काव्य या नाटक के किसी एक प्रकरण में मुख्य रस का ऐसा उत्कर्ष दिखाया जाय जैसा उसके पहले या बाद में मिलता न हो, यथा—'विक्रमोर्वशीय' के उन्मत्तांक में। ७. अवान्तरवस्तुवक्रता—जिसमें मुख्य वस्तु की सिद्धि के लिए अवान्तर वस्तु की विचित्रता दिखायी गयी हो। ८. नाटकान्तर्गतनाटकवक्रता—इसमें एक नाटक में दूसरा नाटक अभिनीत किया जाता है, यथा—

'उत्तररामचरित' के सातवें अंक में अथवा 'बाल रामायण' के सातवें अंक में। ९. सन्ध्यंगविनिवेशवक्रता—सन्धियों और अंगों की यथायोग्य योजना से सिद्ध वक्रता।

प्रबन्धवक्रता

अन्ततः प्रबन्धवक्रता के छः भेद बताये गये हैं : १. रसपरिवर्त्तनवक्रता—प्रसिद्ध वस्तु का जो रस है उसके स्थान पर अन्य रस का निरूपण करना, यथा—महाभारत और रामायण का मुख्य रस शान्त है फिर भी उससे वस्तु ग्रहण कर कवि ने 'वेणी-संहार' नामक वीर रस का नाटक लिखा और 'उत्तररामचरित' करुण रस का नाटक लिखा गया। २. समापनवक्रता—प्रख्यात वस्तु के नायक का सम्पूर्ण जीवन निरूपित न कर उसके किसी भाग का ही निरूपण कर मौन हो जाना। इसका उदाहरण है 'किरातार्जुनीय' जिसमें दुर्योधन की मृत्यु तक की कथा निरूपित करने का उपक्रम किया गया है पर पाशुपतास्त्र की प्राप्ति पर ही कथा रुक जाती है। ३. कथाविच्छेद-वक्रता—इसमें मुख्य वस्तु के सम्बन्ध को गोपित रखने वाले किसी दूसरे कार्य के व्यवधान में टूट कर विरस बनी हुई कथा में जहाँ विच्छेद दिखायी देता हो वहीं कार्य की सिद्धि हुई प्रतीत होती है, यथा—'शिशुपालवध' में कथा दुर्योधन के मरण तक जाने के स्थान पर शिशुपाल के वध पर आ कर ही अटक जाती है पर उससे ही मुख्य कार्य सिद्ध हुआ प्रतीत होता है। ४. आनुषंगिक फलवक्रता—एक फल प्राप्त करने के लिए उद्यत नायक को जब दूसरा फल भी मिल जाता है तब यह वक्रता होती है। ५. नामकरणवक्रता—ग्रन्थ के नाम में निहित चमत्कार ही उक्त वक्रता है। इसमें उसने 'अभिज्ञानशाकुंतल', 'मुद्राराक्षस', 'मायापुष्पक' आदि की प्रशंसा की है और 'शिशु-पालवध' और 'हयग्रीववध' तथा 'पाण्डवाभ्युदय' आदि नाम चमत्कारहीन कहे हैं। ६. तुल्यकथावक्रता—एक ही वस्तु के आधार पर रचित कृतियाँ अपने पृथक् व्यक्तित्व के कारण जब आनन्द प्रदान करने वाली बन जाती हैं तभी यह वक्रता सिद्ध होती है, यथा—'रामायण' की कथा के आधार पर रचित 'रामाभ्युदय', 'उत्तरराघव', 'वीर-चरित्र', 'बालरामायण', 'कृत्यारावण', 'मायापुष्पक' आदि कृतियाँ।

यहाँ कुन्तक के ग्रन्थ का सार पूरा होता है। अब मैं यहाँ उसके काव्य-चिन्ता सम्बन्धी प्रमुख बिन्दुओं को प्रस्तुत कर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा।

उपसंहार

कुन्तक काव्य के प्रयोजनों में उपदेश और आनन्द इन दोनों का समावेश करता है। काव्य-हेतु में वह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों का उल्लेख करता है। काव्य की परिभाषा वह वक्र कवि-व्यापारशाली और सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाले बन्ध में प्रयुक्त शब्दार्थ के रूप में देता है। वह वक्ता को लोकोत्तरचमत्कारी वैचित्र्य कहता है और उसके मतानुसार यही काव्य की आत्मा है। कवि के लिए विवक्षित अर्थ का जो एकमेव वाचक होता है उसे ही वह शब्द कहता है और तद्विदों को आह्लाद प्रदान करने वाले को ही अर्थ कहता है। शब्द का दूसरे शब्द के साथ

और अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ परस्परस्पर्द्धित्वरूप साहित्य काव्य के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ भी दो सुहृदों की भाँति किसी एक दूसरे से कम या ज्यादा न होकर परस्पर के सौन्दर्य को अभिवृद्ध करने वाले हों इतना ही नहीं पर काव्य के सभी अंगों अर्थात् मार्ग के अनुकूल गुण, वक्तायुक्त अलंकार और वृत्ति के औचित्ययुक्त रसों के परिपोषण में भी परस्पर स्पर्धा करते हों तभी सच्चे साहित्य की सिद्धि हुई माननी चाहिए और ऐसा काव्य ही पदवाक्यार्थ के परे किसी अलौकिक अर्थ की प्रतीति करवा कर काव्य के प्राणरूप रस का आस्वाद कराता है। काव्य में यह शक्ति कविव्यापारवक्रता के कारण आती है। यह वक्रता छः प्रकार की है। इस तरह कुन्तक कवि-व्यापार को खूब महत्त्व देता है और इसीलिए उसकी चिन्ता में कवि केन्द्र में है। कवि का जैसा स्वभाव है तदनुसार ही वह काव्य-रचना के लिए मार्ग स्वीकार करता है। काव्य-मार्ग तीन हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम। सुकुमार मार्ग में कवि की स्वाभाविक प्रतिभा निरायास व कम-से-कम अलंकारों का प्रयोग कर वस्तु के स्वभाव को ही मुख्यतः निरूपित करती है। जब कि विचित्र मार्ग में कवि की प्रतिभा को व्युत्पत्ति का सबल सहयोग मिलने से वह प्रतिभा से उत्पन्न अयत्न-निर्वर्त्य अलंकारों के प्राचुर्य से सजा कर वस्तु के स्वभाव को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करती है। इसमें पुरानी वस्तु भी उक्तिवैचित्र्य से नई बन जाती है। यह मार्ग सभी से कठिन है। इन दोनों मार्गों के मिश्रण रूप में मध्यम मार्ग सौन्दर्य-शोध के शौक़ीन अरोचकी कवि पसंद करते हैं। इनमें प्रत्येक के वह चार-चार गुण बताता है और तदुपरान्त वह यह कहता है कि अन्य दो गुण सभी मार्ग के काव्यों के प्रत्येक अंग में व्याप्त होने चाहिएँ। औचित्य और सौभाग्य ये दो गुण हैं। अलंकार प्रतिभा से प्रकटित अयत्न-निर्वर्त्य और प्रस्तुतौचित्य वाले होने चाहिएँ, तभी वे उपकारक होते हैं अन्यथा तो अपकारक हो जाते हैं—यही उसका मत है। वह व्यंजना को स्वीकारता है और रस को भी वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लेता है; पर रस का महत्त्व वह अच्छी तरह समझता है और उस पर बारम्बार भार देता है। कुन्तक के काव्य-विचार की विशेषता यह है कि वह कवि-व्यापार पर खूब बल देता है, काव्य-सर्जन की प्रक्रिया समझाता है और यह स्पष्ट करता है कि कवि के स्वभाव का उसकी रचना के रस और रीति पर पूरा प्रभाव पड़ता है। उसकी सम्पूर्ण विचारणा में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य और ताजगी वर्तमान है। उसके द्वारा अपने ग्रन्थ में दिये गये उदाहरण और विशेषतः उन पर की गयी चर्चा उसके सूक्ष्म काव्य-बोध का आह्लादक अनुभव कराती है और इस प्रकार काव्य-शिक्षण का महत्त्वपूर्ण काम पूरा करती है। कुन्तक के बारे में विद्वानों का अनुमान है कि वह आनन्दवर्द्धन के बाद और अभिनव गुप्त से पहले हुए थे। इस प्रकार देखें तो इसके ग्रन्थ की रचना और विषय-निरूपण पर ध्वन्यालोक का गहरा असर दिखायी देता है। 'औचित्यविचार-चर्चा' में औचित्य के जो विविध स्थान दर्शाये गये हैं उनके साथ भी वक्रोक्ति के प्रकारों का कितना साम्य है! इतना होने पर भी अपनी स्वतन्त्र निर्भीक विचारणा के कारण कुन्तक हमारी आचार्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. वक्रोक्तिजीवित ऑफ कुन्तक—सुशीलकुमार दे, १९६१।
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—आचार्य विश्वेश्वर, १९५५।
३. काव्य-विचार—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, १९३९।
४. भारतीय साहित्यशास्त्र (मराठी)—ग. त्र्यं. देशपाण्डे, १९५८।
५. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स—सुशीलकुमार दे, १९६०।

———

रमणीयता : जगन्नाथ का काव्य-विचार

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में जन्मे पण्डित जगन्नाथ हमारे अन्तिम महत्त्वपूर्ण आलंकारिक हैं। वे सामान्यतः तो अभिनवादि का अनुसरण करते हैं, पर विस्तृति में अपना स्वतन्त्र मत धारण किये हुए हैं। स्वभाव से उग्र और अभिमानी होने के कारण इनके ग्रन्थ में भी एक प्रकार की युयुत्सा दृष्टिगत होती है। कभी-कभी तो वे सुरुचि का भी त्याग करते दिखायी देते हैं। भट्टोजी दीक्षित के ग्रन्थ 'मनोरमा' का खण्डन करने के लिए लिखे हुए ग्रन्थ का नाम इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' रखा था। अपने पद्यों के संग्रह के समय इन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा था :

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा मया कृता॥

जिन्हें उनकी कविता आनन्द प्रदान नहीं करती उनके लिए उन्होंने लिखा है :

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमय वामाधरसुधा
कदाचित्केषांचिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथ भणितिः॥

ग्रन्थ-परिचय

हमें उनके काव्य-विचार पर ही आना चाहिए। इनके ग्रन्थ का नाम 'रसगंगाधर' है। आज समग्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दूसरे आनन में उत्तर अलंकार तक का भाग ही प्राप्त होता है, पर जितना भाग मिलता है उसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-परिभाषा, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, रस-स्वरूप, उसके भेद, भरत के रस-सूत्र की व्याख्या, रस-दोष, गुण-निरूपण, शब्द-गुण, अर्थ-गुण, भाव-ध्वनि, ध्वनि के प्रकार, अलंकार-निरूपण आदि काव्य से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा आ जाती है। वे पूर्ववर्ती आचार्यों की बेलाग चर्चा करते हैं और सभी उदाहरण स्वरचित ही देते हैं, जो इस ग्रन्थ की एक विशेषता है।

ग्रन्थारम्भ में वे अपने पिता और गुरु की बन्दना करते हैं। इनके पिता पेरु भट्ट वेदान्त, वैशेषिक न्याय, पूर्व मीमांसा और व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे अतः जगन्नाथ उन्हें 'सर्वविद्याधर' कहते हैं और उनकी महागुरु के रूप में बन्दना करते हुए कहते हैं कि उनकी शिक्षा ने ही मेरे समान पाषाण को भी अमृत बहाने वाला बना दिया है :

पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥३॥

इसके अनन्तर वे अपने ग्रन्थ के विषय में कहते हैं कि मननरूपी सागर के उदर में महाश्रम से डुबकी लगा कर मैं 'रसगंगाधर' नामक मणि इस जगत् में लाया हूँ। यह गुणीजनों के अन्तर के अन्धकार को दूर कर उनके हृदयों में अधिरूढ़ हो सभी अलंकार-ग्रन्थों का गर्व उतारे।

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान्सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥४॥

ऐसे ही दर्प के साथ वे आगे कहते हैं : सहृदयों में श्रेष्ठ कितने ही पण्डितों ने भले ही अर्थों का परिष्कार किया हो फिर भी मैंने जो श्रम किया है वह व्यर्थ नहीं जायगा। बड़े-बड़े तिमिंगलों ने भले ही सागर को मथा हो पर इससे कहीं मंदराचल का प्रयास असफल नहीं हो जाता। अर्थात् तिमिंगल चाहे कितना ही सागर को मथें उनसे कोई रत्न निकलने वाला नहीं है, यह काम तो मंदराचल से ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य पण्डित भले ही काव्य-शास्त्र की कितनी ही चर्चा करें पर उससे वह सिद्ध नहीं हो सकता जो मैं इस ग्रन्थ के द्वारा करना चाहता हूँ।

परिष्कुर्वन्त्वर्थान्सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ॥५॥

इसके बाद वे अपने ग्रन्थ की विशेषता बताते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ में जहाँ जैसे चाहिए वैसे उदाहरण, काव्य रच कर दिये हैं। मैंने इनमें दूसरों का कुछ भी प्रयुक्त नहीं किया है। कस्तूरी को उत्पन्न करने की शक्ति वाला मृग क्या कभी पुष्पों की सुगन्ध लेने की इच्छा भी करेगा ?

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥६॥

तदुपरान्त वे अपने बारे में कहते हैं कि मननरूपी नाव के सहारे विद्या-सागर को पार करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ 'रसगंगाधर' नामक यह काव्यमीमांसा कौतुकपूर्वक रचते हैं :

मननतरिणीतीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥७॥

और बाद में अपने ग्रन्थ को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि 'रसगंगाधर' नामक यह संदर्भ-ग्रन्थ चिरजीवी हो और स्वभाव से ही रमणीय सत्काव्य रचने वाले कवि-वृन्दों का यह रंजन करे।

काव्य-प्रयोजन

तदनन्तर वे काव्य-परिभाषा की प्रस्तावना के रूप में कहते हैं कि कीर्ति, परम आह्लाद, गुरु राजा देवता आदि की प्रसन्नता आदि अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले काव्य का बोध कवियों और सहृदयों के लिए आवश्यक है और उसके गुणालंकार आदि का निरूपण करने के लिए भी दूसरी वस्तुओं से पहले उसकी भिन्नता स्पष्ट करनी चाहिए; अतः आरम्भ में काव्य का लक्षण दिया जा रहा है। यहाँ हम देखते हैं कि जगन्नाथ ने काव्य के तीन प्रयोजन ही स्वीकार किये हैं : कीर्ति, परम आह्लाद और गुरु राजा आदि की प्रसन्नता। शेष को उन्होंने निषेध न कर 'आदि' में डाल दिया है।

काव्य की परिभाषा

जगन्नाथ काव्य की परिभाषा इस प्रकार देते हैं :

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥१॥

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। इस प्रकार जगन्नाथ शब्द को काव्य कहते हैं। भामह से मम्मट तक के अनेक आलंकारिकों ने शब्दार्थ-युगल को काव्य कहा है जिसका वह विरोध करते हैं। 'शब्द ही काव्य है'—कह कर वह शब्द को विशेषणयुक्त बनाते हैं और कहते हैं कि यह शब्द रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाला होना चाहिए।

'घट लाओ', 'पट लाओ' जैसे सामान्य वाक्यों का परिहार करने के लिए वह कहते हैं कि इन शब्दों द्वारा प्रतिपादित अर्थ रमणीय होना चाहिए। शब्द तीन प्रकार के हैं : वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। जगन्नाथ को ये तीनों ही मान्य हैं अतः यहाँ उन्होंने जिसमें इन तीनों का समावेश हो जाय ऐसे प्रतिपादक शब्द का प्रयोग किया है। कारण, जगन्नाथ का मत है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ भी रमणीय होने पर ही काव्य बनते हैं। वह सत्काव्य के लिए व्यंजना को अनिवार्य अथवा आवश्यक नहीं मानता। जिस प्रकार ध्वनिवादी काव्य के लिए ध्वनि को आवश्यक मानते हैं उस प्रकार की बात जगन्नाथ के साथ नहीं है। अर्थ का बोध तो नेत्र-कटाक्षादि से भी हो सकता है, अतः इन सभी के निवारण करने के लिए उन्होंने 'शब्द' पद का उपयोग किया है। जब किसी रमणीय अर्थ का शब्द द्वारा प्रतिपादन होता है, तब काव्य बनता है। व्याकरण आदि में भी रमणीय शब्दों का प्रतिपादन होता है, इसका परिहार करने के लिए उन्होंने 'अर्थ' का प्रयोग किया है। इस परिभाषा में 'रमणीय' विशेषण का महत्त्व है, अतः अब रमणीयता को समझ लेना चाहिए।

रमणीयता

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।

रमणीयता का अर्थ है लोकोत्तर आनन्दजनक ज्ञान का विषय होने का गुण। दूसरे ढंग से कहें तो जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द मिलता है वह अथवा जिसके ज्ञान

से लोकोत्तर आनन्द उत्पन्न होता है वह अर्थ रमणीय अर्थ कहलाता है। अर्थात् जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द होता है ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।

यहाँ जगन्नाथ लोकोत्तर आनन्द के आशय की अधिक स्पष्टता इस प्रकार करते हैं : 'तेरे घर पुत्र जन्मा है' अथवा 'मैं तुझे धन दूँगा' आदि वाक्यों के अर्थ का बोध होते ही जो आनन्द मिलता है वह लोकोत्तर आनन्द नहीं है, अतः ऐसे वाक्य काव्य नहीं कहे जायँगे। इसका अर्थ यह है कि जिसके साथ लौकिक लाभ या प्रयोजन का सम्बन्ध हो अर्थात् जिसके साथ व्यक्तिगत लाभ-हानि जुड़ी हुई हो ऐसा आनन्द लोकोत्तर आनन्द नहीं है। लोकोत्तर आनन्द सांसारिक प्रयोजनों से परे है।

यहाँ यह कहा गया है कि काव्य से उत्पन्न आनन्द लोकोत्तर है, अतः वह अब 'लोकोत्तरता' को समझाता है।

लोकोत्तरता

लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

अर्थात्, लोकोत्तरता माने विशेष जाति का आनन्द। वह इसे ही चमत्कार कहता है। और उस चमत्कार का अनुभव ही उसके अस्तित्व का प्रमाण है। अन्य किसी लौकिक प्रमाण के द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्वानुभव ही उसका एकमात्र प्रमाण है।

ऐसे लोकोत्तर आनन्द के उत्पन्न होने में निहित कारण को समझाता हुआ वह कहता है :

'कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।' ऐसे लोकोत्तर अथवा चमत्कारपूर्ण आनन्द की उत्पत्ति में कारण है पुनः-पुनः अनुसन्धान करने वाली भावना विशेष। अर्थ यह है कि काव्य का बारम्बार अनुसन्धान किया जाता है, भावन किया जाता है और इससे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव होता है। आशय है कि जब हम कोई काव्य पढ़ते हैं उस समय उसका अर्थ हमें पसन्द लगने लगता है और उसको बारम्बार अनुभव करने की इच्छा होती है। अतः हम उस काव्य के शब्दों का बारम्बार अनुसन्धान-पठन करते हैं; इस प्रकार हमारा काव्य का बोध धारावाही बन जाता है और यही धारावाही बोध अथवा भावना लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। जहाँ-जहाँ काव्य का पुनः-पुनः अनुसन्धान कहा गया है वहाँ काव्य में अगर व्यंग्यार्थ हो तो व्यंग्यार्थ का और व्यंग्यार्थ न हो तो वाच्यार्थ का अनुसन्धान समझना चाहिए। कारण, जगन्नाथ के मतानुसार विलक्षण वाच्यार्थ भी लोकोत्तर आनन्द दे सकता है।

इस प्रकार, काव्य की परिभाषा में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या देने के बाद वह परिभाषा का सार देते हुए कहते हैं कि इसका अर्थ यह हुआ कि चमत्कार उत्पन्न करने वाली भावना का विषय बन सकने वाले अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है; अथवा, शब्द-प्रतिपादित अर्थ को विषय बनाने वाली चमत्कृतिजनक

भावना काव्य है, अथवा चमत्कृतियुक्त अर्थ की प्रतीति कराने वाला गुण अर्थात् चमत्कारत्व जिसमें हो वही काव्य है। यह तीसरी व्याख्या मूलतः इस प्रकार है :

'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।'

इसमें 'स्व' से चमत्कारत्व समझना है। चमत्कारत्व जिसमें हो वह चमत्कार (जिस प्रकार गोत्व जिसमें हो वह गो) है। भावना में उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित है और भावना का विषय काव्यार्थ है। [भावना यों तो सम्भव नहीं है। भावना का कोई विषय तो होना चाहिए और यह विषय काव्यार्थ है।] और काव्य का प्रतिपादन करने वाले शब्द हैं। अर्थात् 'चमत्कारत्ववत्त्वं काव्यम्' चमत्कारता जिसमें हो वह काव्य है—इस छोटी व्याख्या में भी मूल व्याख्या का पूरा अर्थ समाविष्ट हो जाता है।

जगन्नाथ द्वारा दी गयी काव्य की यह व्याख्या दण्डी की व्याख्या 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' का ही अनुवाद कही जा सकती है।

पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं की चर्चा

अपनी काव्य की परिभाषा देने और समझाने के बाद वह पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दी गयी परिभाषाओं की चर्चा करता है। इनमें वह पहले मम्मट और उसके समान व्याख्या देने वाले आचार्यों की परिभाषाओं की चर्चा करता है। वह आचार्यों का पक्ष इस रूप में प्रस्तुत करता है : 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्'। इसमें भामह की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', वामन की व्याख्या 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते', मम्मट की परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' और हेमचन्द्र की व्याख्या 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' का समावेश हो जाता है।

इस पक्ष के विरोध में जगन्नाथ की सबसे पहली आपत्ति यह है कि 'काव्य' शब्द का अर्थ 'शब्दार्थयुगल' नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'काव्य जोर से पढ़ता है', 'काव्य का अर्थ समझ में आता है', 'काव्य सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' आदि लोक-प्रचलित प्रयोगों से तो उल्टा यह समझ में आता है कि 'काव्य' पद का अर्थ 'शब्दविशेष' ही होता है, शब्द और अर्थ नहीं।

अगर कोई यह कहता है कि 'काव्य' शब्द का अर्थ तो 'शब्दार्थयुगल' ही होता है, पर जहाँ केवल शब्द के लिए भी काव्य शब्द का उपयोग हुआ हो, वहाँ यह मानना चाहिए कि वह लक्षणा से हुआ है; तो इसका उत्तर जगन्नाथ इस प्रकार देते हैं कि 'काव्य' का अर्थ 'शब्दार्थयुगल' है, इसका कोई ठोस प्रमाण तो होना चाहिए न? वह तो है ही नहीं। फिर तुम्हारा यह तर्क किस प्रकार स्वीकारा जाय?

'अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के वचन इसके प्रमाण हैं'—अगर आप यह कहते हैं तो इसका उत्तर है कि विरोधी पक्ष के वचन श्रद्धेय प्रमाण-रूप नहीं गिने जाते, अतः यह तर्क भी नहीं चलेगा।

इस प्रकार इसका कोई प्रमाण नहीं है कि 'काव्य' का अर्थ 'शब्दार्थयुगल' होता है, अतः पूर्वोक्त व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि 'काव्य' का अर्थ 'शब्द-विशेष' ही होता है।

ये तर्क बिलकुल क्षुल्लक हैं, और इसीलिए आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव ने कहा है कि :

'शब्द और अर्थ' दोनों के मिलने से काव्य का स्वरूप बनता है : इस प्रकार कहने का विवक्षितार्थ अनेक टीकाकार—जिसमें 'रसगंगाधर' के रसिक कर्ता जगन्नाथ पण्डितराज भी एक हैं?—इतना ही समझें कि काव्य में शब्द होते हैं और अर्थ भी होते हैं। पर शब्द शब्द होते हैं और केवल आवाज नहीं, तो शब्द के साथ अर्थ भी होता है, इसमें कहने लायक क्या है? पर टीकाकारों ने इतना ही अर्थ समझ कर एक महान् (वस्तुतः निःसत्त्व) प्रश्न उठाया कि 'काव्य' के लक्षण में मुख्य पद शब्द रखेंगे या अर्थ? और निर्णय किया कि हम 'काव्यं श्रुतं किन्त्वर्थो नावगतः' 'काव्य सुना पर अर्थ समझ में नहीं आया' जो कहते हैं उससे (!) काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ' न करके 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (जगन्नाथ)—'रमणीयार्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है' के रूप में शब्दप्रधान किया जाय! वस्तुतः यह तर्क शक्तिहीन है, इतना ही नहीं पर 'काव्य' का 'शब्दार्थौ' बल्कि 'शब्दार्थौ सहितौ' कहना केवल शब्द और अर्थ दोनों को गिनाना ही नहीं है, अपितु उनके संश्लिष्टत्व—शिव-पार्वतीवत् अर्थात् अर्द्धनारीनटेश्वरवत् एकांगित्व को बताना भी अभिप्रेत है। यह बात टीकाकारों की दृष्टि में आई ही नहीं।'[१]

जो आस्वाद का उद्बोधन करता है वह काव्य कहलाता है और आस्वाद का उद्बोधन करने की शक्ति तो शब्द और अर्थ दोनों में निहित है, यह कहना उचित नहीं है। कारण, राग आदि भी रस-व्यंजक हैं। इसे ध्वनिकार आदि आलंकारिकों ने स्वीकार कर लिया है अतः राग आदि को भी काव्य कहने की बारी आ जायेगी। इतना ही नहीं, नाट्य के सभी अंग—नृत्य, वाद्य, नेपथ्य-सामग्री, आदि भी रस-व्यंजक है, अतः उन्हें भी काव्य में परिगणित करना पड़ेगा। इस प्रकार यह व्याख्या भी चल नहीं सकती कि जो भी रसोद्बोधक है वही काव्य है।

'शब्दार्थयुगल' काव्य नहीं है, इसके समर्थन में जगन्नाथ दूसरी दलील प्रस्तुत करते हैं कि अगर तुम शब्दार्थ को काव्य कहते हो तो तुम्हें यह भी स्पष्ट करना पड़ेगा कि शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य बनते हैं या काव्यत्व दोनों में पृथक्-पृथक् निहित है। अगर प्रथम विकल्प स्वीकारें तो यह कहने की बारी आयेगी कि केवल शब्द अथवा अर्थ काव्य न होने के कारण 'काव्यवाक्य काव्य नहीं' है। हम कहते हैं कि 'एक दो नहीं है' अथवा 'घट यह कोई घट पट दोनों नहीं है।' अगर हम दूसरा विकल्प स्वीकारें तो यह कहना पड़ेगा कि एक ही काव्य में दो काव्य हैं।

---

१. काव्यतत्त्व-विचार, पृ० ५०-१।

कारण, शब्दांश में भी काव्यत्व है और अर्थांश में भी काव्यत्व है। साथ ही, तुम यह भी नहीं कह सकते कि यह इष्टापत्ति है। कारण, यह इस सत्य ज्ञान के विरुद्ध जाता है कि 'काव्य एक है।' और यह भी नहीं कह सकते कि 'काव्य एक है' यह सत्य ज्ञान नहीं है। कारण, बाद में इस प्रकार की बाधक प्रतीति नहीं होती कि 'काव्य अनेक हैं।' इसलिए इन सबका सार यह है कि शब्द को ही काव्य मानना चाहिए, शब्दार्थयुगल को नहीं।

तदुपरान्त वह काव्य की व्याख्या में गुणालंकारों के समावेश करने का भी विरोध करता है। कारण, 'उदितं मण्डलं विधोः।' 'चन्द्रोदय हुआ' आदि वाक्यों में कोई गुण या अलंकार न होने पर भी इसमें चमत्कार व्यंग्यार्थ निहित होने के कारण इसे काव्य के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह वाक्य जिस दूती, अभिसारिका या विरहिणी के द्वारा बोला जाता है उसी के अनुसार उससे भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। यथा क्रमशः—१. चाँदनी बरस रही है, मार्ग स्पष्ट दिखायी देता है, काँटा लगने का भय नहीं है अतः तू आराम से संकेत-स्थान पर जा सकेगी; २. चन्द्र के इस प्रकाश में संकेत-स्थान तक मैं जाऊँ कैसे ? लोग मुझे दूर से ही पहचान लेंगे, मेरी इज्जत का क्या होगा ? ३. इस उद्दीपक चाँदनी को देख कर मेरी विरह-वेदना का ज्वार बढ़ जाता है, मुझसे जिया नहीं जायगा, आदि। ऐसे ही अन्य वाक्यों 'गतोऽस्तमर्कः' आदि के विषय में भी है। इस तरह तुम्हारी व्याख्या में अव्याप्ति-दोष आ जाता है।

साथ ही, तुम यह भी नहीं कह सकते कि यह काव्य नहीं है, कारण, इसमें काव्य का जीवातुभूत तत्त्व चमत्कार होने पर भी उसके काव्यत्व को अगर अस्वीकार करोगे तो तुम जिसे काव्य कहते हो उसके काव्यत्व को दूसरे भी अस्वीकार कर देंगे। गुण और अलंकार की स्पष्ट व्याख्या हुई नहीं है; अतः काव्य की व्याख्या में इनका निर्देश नहीं करना चाहिए था। जिसका अपना स्वरूप ही निश्चित नहीं है वह दूसरे के स्वरूप को निश्चित कराने में कैसे उपयोगी सिद्ध हो सकता है ? 'दोषहीन'—यह विशेषण भी उचित नहीं है, क्योंकि यह भी कहा जाता है कि यह काव्य दोषयुक्त है। इसलिए इसका यह भी अर्थ हुआ कि दोषपूर्ण भी काव्य हो सकता है। अगर कोई यह कहता है कि काव्य के अमुक भाग में दोष और अमुक भाग में नहीं तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि काव्यत्व वृक्ष और पक्षी के समान अव्याप्यवृत्ति सम्बन्ध नहीं है, पर तिल में तैल के समान व्याप्यवृत्ति गुण है। और अगर किसी वृक्ष के मूल पर पक्षी बैठा है तो हम यह कह सकेंगे कि वृक्ष के मूल के साथ पक्षी का संयोग है, पर डाल के साथ नहीं। यह सम्बन्ध अव्याप्यवृत्ति सम्बन्ध है, किसी एक अंग तक सीमित हो सकता है। पर, काव्यत्व के विषय में ऐसा नहीं है। काव्यत्व के अमुक अंश में काव्यत्व है और अमुक अंश में नहीं—इस तरह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सम्बन्ध व्याप्यवृत्ति है। जिस प्रकार पूरे तिल में तैल व्याप्त है उसी प्रकार काव्य भी सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त है।

अतः काव्य के लिए 'दोष रहित' और 'दुष्ट' नामक दो विशेषण एक ही साथ नहीं लगाये जा सकते। जो पदार्थ अव्याप्यवृत्ति होता है उसी के बारे में इस प्रकार का प्रयोग किया जा सकता है, यथा—वृक्ष के मूल पर पक्षी है, डाल पर नहीं।

गुण रस के धर्म हैं। इसी प्रकार अलंकार तो काव्य के शरीर-शब्द को और अर्थ को सजाने वाले आभूषण हैं। वे काव्य-शरीर के अंग नहीं बन सकते। इस तरह काव्य की व्याख्या में 'सगुणौ' और 'सालंकारौ' विशेषण जो शब्दार्थ के लिए लगाये गये हैं, उचित नहीं हैं।

इन सभी तर्कों में पुष्कल चातुर्य होने पर भी वे टिकने में समर्थ नहीं हैं। 'काव्य सुना, पर अर्थ समझ में नहीं आया' के समान प्रयोगों से अगर यह कहा जाय कि काव्य का अर्थ केवल शब्द है तो लोगों में यह भी प्रचलित है कि 'काव्य समझ में नहीं आता'। और अगर प्रथम प्रयोग प्रमाण मान लिया जाय तो यह प्रयोग क्यों नहीं माना जायेगा? इस प्रयोग से स्पष्ट होता है कि काव्य में केवल शब्द ही नहीं, अपितु अर्थ का भी समावेश होता है। केवल शब्द या अर्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता। साथ ही, अगर केवल शब्द को ही काव्य कहें तो काव्य में शब्द-योजना अर्थानुसार ही होनी चाहिए, इसका आग्रह किसलिए? अगर काव्य का अर्थ केवल शब्द होता तो प्राकृत उदाहरणों की संस्कृत छाया काव्य के उदाहरण के रूप में प्रयुक्त ही नहीं की जानी चाहिए, और काव्य का अनुवाद ही सम्भव नहीं होना चाहिए। पर हम कितने सारे काव्यों का आस्वाद केवल अनुवादों के द्वारा लेते आये हैं! शास्त्रों में जो परिभाषा दी जाती है वह केवल लोक-व्यवहार के आधार पर नहीं दी जाती, पर शास्त्र द्वारा निश्चित अर्थ के अनुसार ही दी जाती है।

शब्द और अर्थ दोनों मिल कर व्यास-वृत्ति से काव्य बनते हैं, अतः प्रत्येक—पर्याप्त एक-एक अंश में काव्य है। इस प्रकार मान लेने से निर्दिष्ट दोष का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता। शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौन्दर्य दोनों मिल कर एक नया ही सौन्दर्य पैदा करते हैं और यही काव्य-सौन्दर्य है। इसकी विस्तृत चर्चा कुन्तक में आ चुकी है।

गुणालंकारों का काव्य-लक्षण के रूप में समावेश करने में कोई दोष नहीं है। कारण, गुण मुख्य वृत्ति से रस के और गुणवृत्ति से शब्दार्थ के भी धर्म माने गये हैं। साथ ही, जगन्नाथ स्वयं तो गुण को रस और शब्द, अर्थ, रचना आदि का धर्म मानते हैं, अतः वे तो इस तरह की आपत्ति उठा ही नहीं सकते। इसके अलावा अर्थ में व्यंग्यार्थ भी समाविष्ट है और उसमें रस का समावेश है ही।

यह कहना भी उचित नहीं है कि गुणालंकार का कोई स्वरूप निश्चित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आचार्य द्वारा अपने तक सीमित रह कर लक्षण निर्णीत करके ही उनका प्रयोग किया गया है। 'गतोऽस्तमर्कः' आदि में प्रकरणादि की योजना के कारण रमणीयता आती है और तभी वह काव्य बनता है। इसमें स्फुट नहीं तो अस्फुट रूप में गुणालंकार आयेंगे ही।

'अदोषौ' के प्रति आपत्ति भी व्यर्थ है। इसका अर्थ 'स्फुट दोषादि' किये जाने पर कुछ कहने के लिए रह ही नहीं जाता। इसे दोष मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

इसके बाद विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'काव्यं वाक्यं रसात्मकम्' नामक व्याख्या दी है जिसका विरोध करते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि यह कहना भी उचित नहीं है कि जो रसयुक्त है वही काव्य है। कारण, फिर तो वस्तुप्रधान और अलंकार-प्रधान काव्यों को अकाव्य कहने का अवसर आ जायेगा। यह इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर तो महाकवियों को भी कविकुल से निकालना पड़ेगा, क्योंकि उनके काव्य में वस्तु-वर्णन की अधिकता होती है। अगर यह कहा जाय कि उनमें भी रस-स्पर्श होता है तो फिर जगत् की सभी वस्तुओं में किसी-न-किसी रस के विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव के होने को मानना पड़ेगा और इस प्रकार 'बैल चलते हैं' या 'हरिण दौड़ते हैं' के समान वाक्यों को भी काव्य कहने की बारी आ जायेगी।

काव्य का कारण

इस प्रकार काव्य की परिभाषा देकर तथा उसकी चर्चा करने के बाद वे अब काव्य का कारण बताते हैं। 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा'। काव्योत्पत्ति में वे केवल कवि-प्रतिभा को ही कारण मानते हैं। मम्मट आदि ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी हेतुओं में समाविष्ट किया था, पर जगन्नाथ ऐसा नहीं करते। उनकी दृष्टि में प्रतिभा काव्य की घटना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति है : 'सा च काव्य-घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।' इसका अर्थ यह है कि काव्य-रचना के लिए जब जैसे शब्दार्थ की आवश्यकता हो तभी तदनुसार शब्दार्थ उपस्थित हो जाएँ, इसका नाम प्रतिभा है। जगन्नाथ द्वारा प्रदत्त प्रतिभा की यह व्याख्या रुद्रट की व्याख्या से मेल खाती है। रुद्रट कहते हैं :

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

अर्थात् जिसके कारण काव्य-रचना में सुसमाहित अर्थात् एकाग्र चित्त में भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और अक्लिष्ट पदावली सूझती है, उसका नाम शक्ति है। इसे समझाते हुए उन्होंने कहा है कि 'प्रणिधानसहकृते चेतसि यो झटित्युद्बुध्यतेऽक्लिष्टपदपदार्थगोचरः संस्कारः, सा प्रतिभा विद्वदादिपद-प्रवृत्तिनिमित्तम्।' अर्थात् एकाग्र चित्त में अक्लिष्ट पद और पदार्थ विषयक जो सस्कार एकदम जगते हैं उसका नाम प्रतिभा है; वह कवि आदि की शब्द-रचना-प्रवृत्ति का निमित्त अर्थात् कारण है।

हमने देखा कि जगन्नाथ केवल कवि-प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं।

पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट और वामन भी इसी मत के थे। पर, शेष बहुत से आचार्य प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य के कारणों में समा लेते हैं। इनमें दण्डी,[1] मम्मट,[2] वाग्भट,[3] पीयूषवर्ष[4] आदि का समावेश होता है।

जगन्नाथ ने व्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या कुछ भिन्न ढंग से की है। वे प्रतिभा के दो भेद मानते हैं: १. देवता अथवा किसी महापुरुष के प्रसाद से प्राप्त और २. विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य करने के अभ्यास से उत्पन्न।

'तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ।'

प्रतिभा काव्य की उत्पत्ति में कारण है, और काव्य करने का अभ्यास व्युत्पत्ति का कारण है—क्या इस प्रकार के कथन में तर्क-दोष नहीं है? प्रतिभा के अभाव में काव्य होगा नहीं तो फिर काव्य करने का अभ्यास ही बिना प्रतिभा के कैसे सम्भव होगा? अतः यह अभ्यास प्रतिभा का कारण किस प्रकार हो सकता है? अस्तु।

काव्य के चार प्रकार

इस तरह काव्य-प्रयोजन, काव्य-व्याख्या और काव्य-हेतुओं को दिखाने के बाद जगन्नाथ काव्य के प्रकार बताते हैं। उनके मतानुसार काव्य के चार प्रकार हैं: १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम, ४. अधम।

उत्तमोत्तम

उक्त चार प्रकारों का परिचय इस प्रकार है:

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।

जिसमें शब्दार्थ अपने को गौण बना कर किसी अलौकिक अर्थ को अभिव्यक्त करता हो वह उत्तमोत्तम है। अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्यार्थ मुख्य हो और शब्दार्थ गौण हो वह उत्तमोत्तम काव्य है। यह व्याख्या आनन्दवर्द्धन और मम्मट की ध्वनि की व्याख्या से मेल खाती है। आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि,

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ १-१३॥

---

१. स्वाभाविकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

२. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

३. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा॥

४. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥

अर्थात्, जिस प्रकार लता की उत्पत्ति में मिट्टी और पानी के सहयोग वाला बीज कारण है उसी प्रकार कविता की उत्पत्ति में व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहयोग से युक्त प्रतिभा कारण है।

जिसमें शब्द और अर्थ दोनों ही अपने को गौण बना कर किसी नये अर्थ का व्यंजना द्वारा बोध कराएँ उसे पण्डित ध्वनि अथवा उत्तम काव्य कहते हैं।

और इसका ही अनुवाद करता हुआ-सा मम्मट कहता है : 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।' अर्थात् जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यंग्यार्थ उच्च हो उस उत्तम काव्य को पण्डित लोग ध्वनि कहते हैं।

जगन्नाथ ने अपने उत्तमोत्तम काव्य की व्याख्या समझाते हुए कहा है कि इसमें व्यंग्य अत्यन्त गूढ़ भी नहीं होना चाहिए और न अत्यन्त स्फुट ही होना चाहिए। कारण, इस प्रकार का व्यंग्य चमत्कारक नहीं हो सकता। और आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है कि इस उत्तमोत्तम काव्य को ही ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार के काव्य के जगन्नाथ द्वारा उद्धृत और चर्चित उदाहरणों में से एक हम देखेंगे।

गुरुमध्यगता मता नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रू लतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽसीत्॥

उस नतांगी को गुरुजनों के बीच बैठी हुई देखकर मैंने पद्म की कली से उसको धीरे से मारा, कि तुरन्त ही उसने अपने भवों को नचाकर कान के कुण्डलों को हिलाकर मेरी ओर देखकर अपना मुँह एकदम फिरा लिया।

किसी नायक के द्वारा अपने मित्र के सम्मुख कहे गये ये वचन हैं। इन्हें समझाते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि यहाँ 'घूम गई' वचन द्वारा इस तरह का अमर्ष नामक व्यभिचारी भाव मुख्यतः व्यक्त होता है कि 'ओ अविचारी, समय-कुसमय कुछ भी नहीं देखता ! यह तो तुमने कैसा अनुचित किया ?'। कारण, भावक का चित्त इस भाव की चर्वणा में ही विश्रान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार इस श्लोक में शब्द और अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य भाव ही मुख्य है।

उत्तम

तदुपरान्त वे उत्तम काव्य का लक्षण इस रूप में देते हैं : 'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।' जिस काव्य में व्यंग्य गौण होने पर भी चमत्कार का कारण बनता है वह दूसरा अर्थात् उत्तम काव्य माना जाता है।

यह व्याख्या मम्मट की गुणीभूतव्यंग्य की व्याख्या से मेल खाती हुई प्रतीत होती है। मम्मट की व्याख्या इस प्रकार है : 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यंव्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।' जब व्यंग्य अर्थ मुख्य नहीं होता तब काव्य गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है।

जगन्नाथ द्वारा दिया गया इस तरह का उदाहरण इस प्रकार है :

राघवविरहज्वालासन्तापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥

राघव की विरह-ज्वाला से सन्तप्त सह्याद्रि पर्वत के शिखरों पर शिशिर में सुख से सोये हुए वानर हनुमान पर क्रुद्ध होते हैं।

इसे समझाते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि यहाँ व्यंग्यार्थ है कि हनुमान ने सीता का

कुशल-समाचार देकर राम को शीतल बना दिया, अर्थात् हनुमान के मुख से सीता का समाचार जान कर राम का विरहताप शमित हो गया। जबकि वाच्यार्थ है कि बानर हनुमान पर क्रुद्ध हुए हैं। वानरों के क्रुद्ध होने का कारण यह है : राम जब तक विरह-सन्तप्त रहे तब तक पर्वत भी उनके ताप के कारण ऊष्मायुक्त था और बानर भी शिशिर की ठण्ड में भी सुख से सो सकते थे। पर, हनुमान ने आकर सीता के कुशल-समाचार सुनाये, अतः राम का विरह-ताप शमित हो गया, पर्वत ठण्डा हुआ और वानरों को एकदम ठण्ड लगने लगी और उनकी नींद में खलल पड़ने लगा परिणामतः वे हनुमान पर क्रुद्ध हो गये। यहाँ वाच्यार्थ समझने के लिए व्यंग्यार्थ की सहायता लेनी पड़ती है। व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में सहायक होने के कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होता है। फिर भी उसका चमत्कार कम नहीं है। जगन्नाथ कहते हैं कि जिस प्रकार किसी रानी का दुर्भाग्यवश दासी-दशा को प्राप्त करने पर भी उसका सौन्दर्य झलके बिना नहीं रहता उसी प्रकार यहाँ व्यंग्यार्थ गौण होने पर उसका चमत्कार-जनकत्व छिपा नहीं रहता : 'व्यंग्ये' 'गृणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्र-मिव कामपि कमनीयतामावहति।'

मध्यम

इसके बाद वे तीसरे प्रकार के मध्यम काव्य का लक्षण इस तरह देते हैं : 'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।' जिसमें व्यंग्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा वाच्यार्थ का चमत्कार उच्च हो—अर्थात् जिसमें व्यंग्य का चमत्कार वाच्य के चमत्कार से ढँक जाता हो वह तीसरे प्रकार का अर्थात् मध्यम काव्य कहलाता है।

इसका उदाहरण जगन्नाथ ने निम्न प्रकार दिया है : 'यथा यमुनावर्णने, "तनय-मैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी" इति।' यमुना का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि (यह यमुना) "अपने पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिए फैलाई हुई, समुद्र के उदर में पहुँची हुई, हिमालय की भुजारूपी भगवती भागीरथी की सखी है।"

इसे स्पष्ट करते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि यहाँ वाच्य उत्प्रेक्षा अलंकार ही चमत्कार का कारण है। इस वाक्य में गंगा में हिमालय की भुजा उत्प्रेक्षा की गयी है जिसमें गंगा की श्वेतता व्यंजित होती है, और 'मैनाक को ढूँढ़ने के लिए फैलाई हुई, समुद्र के उदर में पहुँची हुई' नामक वचन द्वारा यह व्यंजित होता है कि गंगा पाताल की तली तक पहुँची हुई है। इन दोनों में चमत्कार का लेश मौजूद है फिर भी वह उत्प्रेक्षा के चमत्कार में ढँक जाता है और इस प्रकार लगता है कि मानो प्रसाधन में कुशलताहीन किसी ग्रामीण स्त्री के अंग की गौरता उसके द्वारा लगाये गये केसर-कुंकुम के अंगराग में ढँक गयी हो। 'श्वैत्य—पातालतलचुम्बित्वादिनां चमत्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षा-चमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकाश्मीरद्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्ग-गौरिमेव प्रतीयते।'

इस प्रकार को लेकर उन्होंने यह और कहा है कि 'ऐसा कोई वाच्यार्थ नहीं है जो प्रतीयमान के लेशमात्र स्पर्श से रहित स्वयं ही रमणीय बन जाय। आशय है कि इस वर्ग के काव्यों में भी व्यंग्यार्थ भले ही कम हो और गौण हो पर होना तो चाहिए ही। इसके अभाव में रमणीयता ही सम्भव नहीं है।' 'न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति।'

इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य में व्यंजना होनी ही चाहिए। और तदुपरान्त काव्य की व्याख्या देते हुए जगन्नाथ ने 'प्रतिपादक' शब्द का उपयोग कर तीनों प्रकार के शब्दों का समावेश करने का आग्रह रख कर ध्वनिवादियों से भिन्न मत रखने का दिखावा किया था जो मात्र दिखावा ही था। वस्तुतः वह स्वयं भी काव्यत्व के लिए व्यंजना को अपरिहार्य मानता है।

इस वर्गीकरण में अलंकारप्रधान काव्य का स्थान कहाँ है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि इन दोनों अर्थात् दूसरे और तीसरे प्रकारों में व्यंग्य यद्यपि गुणीभूत होता है तथापि दूसरे प्रकार में व्यंग्यार्थ जागरूक अर्थात् चमत्कार-जनक होने के कारण अनुभवगोचर होता रहता है जबकि तीसरे प्रकार में वह अजागरूक अर्थात् विशेष चमत्कारजनक न होने के कारण अनुभवगोचर नहीं होता। अतः यह मानना चाहिए कि समासोक्ति आदि जिन अलंकारों में व्यंग्य गौण होने पर भी चमत्कारक होता है ऐसे अलंकारों वाले काव्य दूसरे प्रकार में और दीपकादि जिन अलंकारों में व्यंग्यार्थ गौण होता है और चमत्कार भी नहीं होता ऐसे अलंकार वाले काव्य तीसरे प्रकार में आते हैं। 'अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम्।'

अधम

इसके बाद वे चौथे प्रकार के अधम का लक्षण इस रूप में देते हैं : 'यत्रार्थ-चमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं, चतुर्थम्।' जिसमें अर्थ के चमत्कार से परिपुष्ट शब्द का चमत्कार मुख्य हो उसे चौथा अधम काव्य माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस तरह के काव्यों में शब्दचमत्कृति ही मुख्य होती है, पर उसे अर्थ का सम्बल भी मिलना चाहिए। यह अर्थ रमणीय अर्थात् चमत्कारपूर्ण होना चाहिए। अगर इस तरह का अर्थ न हो तो काव्य ही नहीं बन पाता। जगन्नाथ द्वारा दिया गया इस प्रकार का उदाहरण निम्न है :

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रा ते नमो नमः॥

मित्र (सूर्य) और अत्रि-पुत्र (चन्द्र) रूपी नेत्रवाले, वेदत्रयी के शत्रुओं (दानवों) के शत्रु, पर्वत के शत्रु इन्द्र के गोत्रजों (देवों) के त्राता (रक्षणहार), गोत्राता (गोपाल) को नमस्कार हो। जैसा कि जगन्नाथ ने कहा है, इसमें अर्थ की चमत्कृति शब्द की चमत्कृति में डूब गयी है।

अधमाधम का अस्वीकार

इस प्रकार, स्वस्वीकृत काव्य के चार प्रकारों के लक्षण और उदाहरण देकर वे कहते हैं कि जिसमें अर्थचमत्कृति तनिक सी भी न हो और केवल शब्दचमत्कृति ही हो, ऐसे पाँचवें अधमाधम काव्य-प्रकार को भी मानना चाहिए। परन्तु ऐसे काव्य में रमणीयार्थप्रतिपादकतारूपी काव्य सामान्य का लक्षण न होने के कारण उसमें काव्यत्व का ही अभाव होता है, अतः महाकवियों द्वारा भी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर अपने काव्यों में ऐसी रचना को प्रवेश देने पर भी मैंने वस्तु-स्थिति से संयुक्त होकर इस वर्ग को स्वीकार नहीं किया है।

जगन्नाथ के वर्गीकरण को संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है : १. उत्तमोत्तम—जिसमें व्यंग्य मुख्य हो, २. उत्तम—जिसमें व्यंग्य गौण परन्तु चमत्कार हो, ३. मध्यम—जिसमें व्यंग्य गौण हो पर अर्थालङ्कार मुख्य हो, और ४. अधम—जिसमें अर्थ-चमत्कृति की अपेक्षा शब्द-चमत्कृति अर्थात् शब्दालङ्कार मुख्य हो।

इसमें हम स्पष्टतः देखते हैं कि उन्होंने भी इन विभागों को व्यंग्यार्थ के आधार पर माना है और इसे ही काव्य का मुख्य लक्षण माना है, मात्र उन्होंने अर्थचित्र और शब्दचित्र को एक वर्ग में न रख कर उनके अलग-अलग वर्ग बनाये हैं।

मम्मट के वर्गीकरण का विरोध

तदन्तर वे मम्मट द्वारा स्वीकृत उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीनों प्रकारों का विरोध करते हैं। कारण, अधम में मम्मट ने शब्दचित्र और अर्थचित्र दोनों का समावेश कर लिया है। उनका यह भी कहना है कि अर्थालङ्कार की अपेक्षा शब्दालङ्कार निश्चित रूप से श्रेष्ठ नहीं हैं, अतः इन दोनों को एक ही वर्ग में रखना उचित नहीं है। और वे कहते हैं कि इन दोनों के बीच तारतम्य होने पर भी यदि तुम दोनों को एक ही वर्ग में मानते हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में बहुत ही कम अन्तर होने पर भी दोनों को अलग-अलग वर्ग में रखने का आग्रह किस लिए करते हो?

इस चर्चा का समापन करते हुए उन्होंने कहा है कि अगर किसी एक ही काव्य में शब्दचमत्कृति और अर्थचमत्कृति दोनों हों तो दोनों में जो मुख्य होगी उस पर विचार कर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् अगर अर्थचमत्कृति मुख्य हो तो उसे मध्यम मानना चाहिए और अगर शब्दचमत्कृति मुख्य हो तो उसे अधम मानना चाहिए। अगर दोनों की ही प्रधानता हो तो उसे मध्यम मान लेना चाहिए।

ध्वनि के भेद

इसके बाद वे यह कह कर कि उत्तमोत्तम काव्य ही ध्वनि है, जिसके यों तो असंख्य भेद हैं पर मैं यहाँ कुछ साधारण भेद बताता हूँ, वे ध्वनि के पहले दो भेद करते हैं :

१. अभिधामूलक, २. लक्षणामूलक। इसमें प्रथम प्रकार के तीन भेद हैं : रस, वस्तु और अलंकार। रसध्वनि असंलक्ष्यक्रम का वाचक है; अतः उसमें रस, भाव, उसका आभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का समावेश हो जाता है। दूसरे प्रकार के दो भेद हैं : अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २. अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य। इन पाँच प्रकार की ध्वनियों में परम रमणीय होने के कारण रस-ध्वनि की आत्मा जो रस है उसका स्वरूप निरूपित करते हैं।

रसस्वरूप

जगन्नाथ का रस-स्वरूप-निरूपण अभिनव, मम्मट आदि के लगभग समान ही है। दोनों में थोड़ा भेद है जिसे जगन्नाथ स्वयं इस रूप में प्रस्तुत करते हैं : 'इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणचिदेव रसः।'

अर्थात्, इस प्रकार, अभिनव और मम्मट भट्ट आदि के ग्रन्थों के अनुसार भग्नावरण चिति का विषय बने हुए रत्यादि स्थायी भाव रस हैं, जबकि सच तो यह है कि हम जिस श्रुतिवाक्य को अब उद्धृत करने वाले हैं उसके अनुसार रत्यादि स्थायी भाव-विशिष्ट भग्नावरण चिति रस है। दोनों के बीच अन्तर इतना ही है कि अभिनव गुप्त आदि यह मानते हैं कि स्थायी भाव जब भग्नावरण चिति का विषय बन जाता है तब वह रस-रूप में आस्वादित होता है जबकि जगन्नाथ के अनुसार रत्यादि स्थायी भाव को विषय बनाने वाली भग्नावरण चिति स्वयं रस है। पहले मत में भग्नावरण चिति विशेषण है और स्थायी भाव विशेष्य है जबकि दूसरे मत में स्थायी भाव विशेषण है और भग्नावरण चिति विशेष्य है। दोनों में दोनों के अंश विद्यमान हैं। पर दोनों अपने-अपने दर्शन के अनुसार एक ही वस्तुस्थिति को दो अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। अभिनव गुप्त आदि को काश्मीर शैव मत का अनुयायी होने के कारण भग्नावरण चिति के अलावा दूसरे तत्त्व को स्वीकारने में आपत्ति नहीं है, इसीलिए तो वह कहता है कि भग्नावरण चिति का विषय बना हुआ स्थायी भाव रस है, जबकि जगन्नाथ शांकर मत के केवलाद्वैतवादी हैं, अतः वे दूसरे तत्त्व को स्वीकार कर ही नहीं सकते फलतः वे भग्नावरण चिति को ही रस मानते हैं; मात्र उसे वह स्थायी भाव से विशिष्ट कहते हैं।

जगन्नाथ ने रस के स्वरूप को ले कर समग्रतः अलग-अलग ग्यारह मतों की चर्चा की है और तदन्तर वह इस ग्यारह मतों के अनुसार भरत के रस-सूत्र की व्याख्या भी करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने इस सम्पूर्ण चर्चा का समापन करते हुए कहा है कि यों तो मनीषियों ने अनेक प्रकार के मतों के अनुसार रस को अनेक रूपों में समझाया है फिर भी वह परमाह्लाद के साथ अविनाभाव से संयुक्त है और यह बात निर्विवाद है कि यह रस इस जगत् में या काव्य में रमणीयता लाता है।

नव रस, शान्त का समर्थन

तदुपरान्त वे शान्त सहित नौ रसों का परिगणन कराते हैं और यह कहते हैं कि इसमें भरत का वचन प्रमाण है; इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र का नौ रस वाला पाठ स्वीकृत किया है। शान्त रस के बारे में वे कहते हैं कि कुछ लोग शान्त रस को स्वीकारते ही नहीं। कारण, शान्त का स्थायी भाव शम है और नट में यह सम्भव नहीं होता, अतः वह उसका अभिनय भी नहीं कर सकता। इसीलिए नाट्य में आठ ही रस मानने चाहिए; शान्त रस-नाटक में मान लेना उचित नहीं है। इस तर्क का सार यह है कि शान्त-रस शम से सिद्ध होता है, यह शम वैराग्य से सम्भव है। नट तो सांसारिक मानव है, उसमें शम का होना सम्भव नहीं और अगर उसमें शम ही न हो तो वह उसे उसके अनुभावों को अभिनय द्वारा बता ही किस प्रकार सकता है? इस तरह नाटक में शान्त रस को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका उत्तर यह है कि नट में रस की अभिव्यक्ति होती है, यह बात ही स्वीकार करने लायक नहीं है। भावकों में शम होना ही पर्याप्त है। इसके बल पर उनको रसबोध में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। साथ ही, आप जो यह कहते हैं कि नट में अगर शम न हो तो वह उसका अभिनय नहीं कर सकता तो फिर तो वह भय, क्रोध, आदि के अभाव में, यह कहना पड़ेगा, इन भावों का भी अभिनय नहीं कर सकता। और अगर आप यह कहते हैं कि नट में क्रोधादि का अभाव होने से उसके वास्तविक वधबन्धादि कार्य सम्भव नहीं हैं फिर भी शिक्षा और अभ्यास के बल पर वह ऐसे कृत्रिम कार्यों को तो कर ही सकता है तो शान्त के मामले में भी यही बात लागू होगी। यह मानना ही पड़ेगा कि नट में शम न होने पर भी वह उसके अनुरूप कार्यों का अभिनय तो कर सकता है। यह कह कर अन्त में वह संगीत-रत्नाकर का एक श्लोक उद्धृत करते हैं :

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः किञ्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

अर्थात् कुछ लोग जो यह कहते हैं कि नाटक में आठ रस हैं, ठीक नहीं कहते। कारण, नट किसी भी रस का आस्वाद नहीं ले पाता। और वे कहते हैं कि इस प्रकार सिद्ध होता है कि नाट्य में भी शान्त रस होता है। और आगे बढ़ कर वे कहते हैं कि जो नाट्य में शान्त-रस को स्वीकार नहीं करते उन्हें भी महाभारतादि काव्य में किसी बाधक कारण के न होने से वहाँ शान्त रस अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

तत्पश्चात् स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, अनुभाव और विभाव की स्पष्टता देने के बाद वे विशेष रसों का निरूपण करते हैं। इसमें वीर-रस के मामले में वे कहते हैं कि वीर के चार प्रकार हैं : दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर। इनके अलावा भी वे सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर का भी उल्लेख करते हैं।

भक्ति को वे रस के रूप में न स्वीकार कर भाव के रूप में ही स्वीकार करते हैं और

उसके कारण देते हैं : रसभाव की व्यवस्था में भरत ही प्रमाण हैं अतः यही उचित है कि उसके द्वारा की गयी व्यवस्था का ही अनुसरण किया जाय।

गुण-निरूपण

इसके बाद विरोधी और अविरोधी रसों की चर्चा आती है और इसके बाद रस-दोष-निरूपण आता है। तत्पश्चात् गुण-निरूपण आता है। गुणों के बारे में जगन्नाथ का मत अभिनवगुप्त, मम्मट आदि से तनिक पृथक् है। उसके मतानुसार चिति की द्रुति, दीप्ति और विकास नामक वृत्तियाँ ही माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण हैं। रस तो काव्य की आत्मा है। आत्मा के गुण हो ही नहीं सकते। इस तरह वास्तव में देखें तो गुण रस के धर्म नहीं हैं। पर व्यवहार में हम कार्य को धर्म मान लेते हैं, यथा—हम कहते हैं कि सोंठ गर्म है, पर सोंठ गर्म नहीं होती। वह शरीर में गर्मी पैदा करती है। इसी के अनुसार सम्बद्ध रसों के अनुभवों के कारण इन वृत्तियों का जन्म होता है इसीलिए ये रस इन वृत्तियों के प्रयोजक माने जाते हैं। तदनुसार शब्द, अर्थ और रचना भी इन वृत्तियों के प्रयोजक होने के कारण उनके भी ये गुण धर्म कहलाते हैं। इस तरह जगन्नाथ के मतानुसार गुण यह केवल रस के ही नहीं वरन् रस, शब्द, अर्थ और रचना—इन सभी के धर्म हैं। मम्मट आदि जो यह कहते हैं कि गुण रस के धर्म हैं और वे रस में निहित हैं, इसीलिए 'मधुर रस' आदि का प्रयोग होता है, पर रसानुभाव का उपकारक होने के कारण शब्द, अर्थ, रचनादि के लिए भी उपचारवश ये विशेषण लगाये जाते हैं जो जगन्नाथ को मान्य नहीं हैं। अतः काव्य-लक्षण में जिन्होंने शब्दार्थ के लिए 'सगुणौ' विशेषण लगाया था उनके प्रति आपत्ति उठाने का उनके पास कोई कारण ही नहीं रहता। फिर भी वे यह केवल वितण्डावाद खड़ा करने के लिए ही करते हैं।

इसके बाद वे वामनादि के मतानुसार जो दस शब्द-गुण और अर्थ-गुण स्वीकृत है उनका निरूपण करते हैं और मम्मट का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि इन सभी गुणों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इनमें से कितने ही तो दोषाभावरूप हैं और शेष उक्त तीनों गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं, अतः गुण तो तीन ही हैं।

भाव-निरूपण

इसके बाद गुण-व्यंजक रचना का निरूपण आता है और तत्पश्चात् वे भाव-निरूपण आरम्भ करते हैं। इसमें विशेषता है कि वे भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता और रसाभास को भी भावध्वनि में समाविष्ट कर लेते हैं। वे कहते हैं कि अलक्ष्य-क्रमध्वनि भी कई बार लक्ष्यक्रम हो सकती है। अभिनव का भी यही मत है।

इस चर्चा के अन्त में वे कहते हैं कि वर्ण-रचना रस की व्यंजक नहीं है, पर गुण की व्यंजक है : 'वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच।'

संलक्ष्यक्रमध्वनि

यहाँ 'रसगंगाधर' का प्रथम आनन पूरा होता है। दूसरे आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि का निरूपण आता है। उन्होंने इसके तीन प्रकार माने हैं—१. शब्दशक्तिमूलध्वनि, २. अर्थशक्तिमूलध्वनि और ३. उभयशक्तिमूलध्वनि। शब्दशक्तिमूलध्वनि के दो प्रकार हैं: १. जिसमें व्यंग्य वस्तु है और २. जिसमें व्यंग्य अलंकार है। इसी तरह जगन्नाथ के मतानुसार अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ प्रकार हैं। कारण, व्यंजक या तो वस्तु होगी या अलंकार होगा। और फिर इन दोनों के दो-दो प्रकार होते हैं: १. लोकसिद्ध और २. कविप्रतिभामात्रसिद्ध। इस प्रकार चार भेद हुए। बाद में इन चार में से या तो वस्तु या फिर अलंकार ध्वनित होता है। इस तरह समग्रतः आठ प्रकार हैं। मम्मटादि के मतानुसार अर्थशक्तिमूलध्वनि के समग्रतः बारह प्रकार होते हैं। कारण, वे स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, और कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध नामक व्यंजक के तीन प्रकार करते हैं जबकि जगन्नाथ स्वतःसम्भवी (लोकसिद्ध) और कविप्रतिभामात्रसिद्ध नामक दो ही प्रकार स्वीकार करते हैं। वह कविनिबद्धपात्र-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध को भी कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध में समा लेते हैं। इसका कारण वे यह देते हैं कि यहाँ भले ही कवि का पात्र बोलता हो पर वह पात्र भी अन्ततः तो कवि-प्रतिभासर्जित ही है; अतः इसका समावेश भी कविप्रौढ़ोक्ति में ही कर लेना चाहिए। अन्यथा कवि-वर्णित वक्ता द्वारा वर्णित वक्ता की उक्ति और उस वक्ता द्वारा वर्णित वक्ता की उक्ति आदि अनेक भेद करने पड़ेंगे। उनका यही कहना है कि यह सब युक्तिसंगत नहीं है।

जगन्नाथ के ये तर्क उचित प्रतीत नहीं होते। कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध में बोलने वाला कवि स्वयं होता है और कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध में बोलने वाला कवि-निर्मित पात्र होता है, अतः व्यंग्यार्थ में अन्तर आ जाता है। एक उदाहरण देखें:

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

किस पर्वत पर, कितने समय तक, कौन-सा तप उसने किया है, जिससे हे तरुणी, यह सुग्गा तेरे अधर जैसे लाल बिम्बफल को चुगता है।

यदि इन वचनों को कवि द्वारा कहा हुआ मान लें तो इसमें अधिक व्यंग्यार्थ नहीं मिलता, पर अगर ये वचन किसी कवि-निर्मित पात्र द्वारा बोले गये हैं तो इनमें से नायिका के अधर-चुम्बन की अभिलाषा ध्वनित होती है और इसके माध्यम से श्रृंगार-रस की व्यंजना तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार कवि के द्वारा कथित और कवि-निर्मित पात्र द्वारा कथित वचनों के बीच में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर है। अतः इन दोनों प्रकारों को अलग मानने में अनौचित्य नहीं है, अगर अनौचित्य है तो न मानने में है। साथ ही, यह कहना भी ठीक नहीं है कि पात्र-निर्मित वक्ता की उक्ति और उसके द्वारा निर्मित पात्र की उक्ति के आधार पर अनन्त भेद

करने पड़ेंगे, क्योंकि वह अन्ततः तो मात्र उक्ति ही है इसलिए व्यंजना में अन्तर आना सम्भव नहीं है।

शब्दशक्तिमूलध्वनि के निरूपणोपरान्त लक्षणामूलध्वनि का निरूपण आता है। इसमें अभिधा और लक्षणा की विस्तार से चर्चा आती है और इसके बाद अलंकार-निरूपण आरम्भ होता है।

अलंकार-निरूपण

अलंकार-निरूपण की प्रस्तावना वे इस रूप में करते हैं : 'प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्काराः।' अर्थात् काव्य की आत्मा व्यंग्यार्थ है और उसकी रमणीयता के प्रयोजक अलंकार हैं। जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहा है। सभी अर्थों में व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है और यह व्यंग्यार्थ भी रमणीय तो होना ही चाहिए। इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि यह रमणीयता अलंकारों से सिद्ध होती है। साथ ही, इसका अर्थ यह भी हुआ कि रमणीयता अर्थात् लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने का गुण अलंकार में होना ही चाहिए। इसके अभाव में कोई अलंकार बन ही नहीं सकता। जगन्नाथ ने काव्यलिंग अलंकार को अस्वीकारते हुए कहा है कि 'काव्यलिङ्गो नालङ्कारवैचित्र्यात्मनोविच्छित्ति-विशेषस्याभावात्।' अर्थात्, काव्यलिंग अलंकार नहीं है क्योंकि इसमें वैचित्र्य जिसकी आत्मा है ऐसी विच्छित्तिविशेष का अभाव है (पृ० ४७०)। इसी रमणीयता को चमत्कार, चारुता, हृद्यता, सौन्दर्य, वैचित्र्य, विच्छित्तिविशेष, भणितिप्रकार, आदि नामों से पहचाना जाता है। जगन्नाथ ने ही कहा है कि 'सौन्दर्यं च चमत्कृत्या-धायकत्वम्। चमत्कृतरानन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः।' (पृ० १५७) अर्थात्, सौन्दर्य अर्थात् चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति। चमत्कार अर्थात् आनन्दविशेष, जिसका प्रमाण सहृदय का हृदय है।

जगन्नाथ केवल कविप्रतिभा को ही काव्य का मूल मानते हैं, अतः काव्य में आने वाले अलंकार भी प्रतिभा से ही प्रकटित हों, यही उनका आग्रह है। उन्होंने कहा है कि 'वस्तुवृत्तस्य लोकसिद्धत्वेनालङ्कारत्वायोगात्। यतः बहिरसन्त कविप्रतिभा-मात्रकल्पिता अर्थाः काव्ये अलङ्कारपदास्पदम्।' अर्थात्, जगत् में अस्तित्व रखने वाला कोई भी पदार्थ वस्तुवृत्त है जो लोकसिद्ध होता है अर्थात् लोक-प्रचलित होता है, अतः वह अलंकार नहीं बन सकता। कारण, बाहर अर्थात् जो जगत् में न हों ऐसे कवि-प्रतिभा द्वारा कल्पित अर्थ ही काव्य में अलंकार-पद प्राप्त करते हैं। (पृ० ४४८)

जैसा कि हम देख आये हैं कि अलंकार का अलंकारत्व विच्छित्तिविशेष में निहित है और इस विच्छित्ति की विलक्षणता के कारण ही अलङ्कार एक-दूसरे से अलग होते हैं। इनके मूल में कवि-प्रतिभा वर्त्तमान है। जगन्नाथ कहते हैं कि 'ननु केयं विच्छित्तिः ? उच्यते। अलङ्काराणां परस्पर विच्छेदस्य वैलक्षणस्य हेतुभूता जन्यता-

संसर्गेण काव्यनिष्ठा कविप्रतिभा, तज्जन्यत्वप्रयुक्ता चमत्कारिका वा विच्छित्तिः।' (पृ० ४६६) अर्थात् यह विच्छित्ति क्या है ? कहते हैं, अलङ्कारों के परस्पर भेद के कारण, वस्तुतः कविनिष्ठ भी काव्य कविजन्य होने के कारण उसमें अवतरित होने वाली अर्थात् काव्यनिष्ठ कविप्रतिभा, अथवा इस प्रतिभा से उत्पन्न होने वाली चमत्कृति ही विच्छित्ति है। इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकार-भेद का कारण प्रतिभा है। प्रतिभा से काव्य जन्म लेता है अतः इस काव्य में प्रवृत्त प्रतिभा अथवा इस प्रतिभा से उत्पन्न चमत्कृत्ति विच्छित्ति है और अलंकार विच्छित्तियुक्त होता है। यह कुछ यों हुआ कि जैसी प्रतिभा वैसी विच्छित्ति और जैसी विच्छित्ति वैसा अलङ्कार। अलङ्कार प्रतिभोत्थ होना चाहिए, इस प्रकार का आग्रह हमें कुन्तक में बारम्बार देखने को मिलता है। वही यहाँ भी दिखायी देता है। 'रसगंगाधर' में हुई सत्तर अलङ्कारों की चर्चा आज उपलब्ध है। इसमें अन्तिम अलङ्कार उत्तर है और उसका उदाहरण भी अधूरा है।

समापन

अन्त में जगन्नाथ के काव्य-विचार के मुख्य-मुख्य मुद्दे पुनः एक बार संक्षेप में लेकर अपने इस लेख को पूरा करूँगा। जगन्नाथ काव्य-प्रयोजन में तीन मुख्य मानते हैं : कीर्ति, परम आह्लाद और गुरु, राजा देवतादि की प्रसन्नता। काव्य-हेतु के रूप में वे केवल कवि-प्रतिभा को मानते हैं और व्युत्पत्ति और अभ्यास को वह एक प्रकार से प्रतिभा के कारण मानते हैं। काव्य की परिभाषा वे इस प्रकार देते हैं : रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। साथ ही, इसका विरोध करते हैं कि शब्दार्थयुगल या रसात्मक वाक्य को काव्य कहा जाय। रमणीयता की व्याख्या 'लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान का विषय होने का गुण' कह कर देते हैं। चमत्कार का अनुभव कराने की शक्ति के रूप में लोकोत्तरता की स्पष्टता करते हैं। उनके मतानुसार प्रतिभा का अर्थ है काव्य-रचना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति। वे काव्य के चार प्रकार बताते हैं : १. उत्तमोत्तम—जिससे शब्दार्थ अपने को गौण बना कर किसी अलौकिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हों, २. उत्तम—जिसमें व्यंग्य गौण होने पर भी चमत्कार मौजूद हो, ३. मध्यम—जिसमें व्यंग्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा वाच्यार्थ का चमत्कार श्रेष्ठ हो और ४. अधम—जिसमें अर्थ-चमत्कार से परिपुष्ट शब्द-चमत्कार मुख्य हो। उत्तमोत्तम काव्य-ध्वनि के पाँच प्रकार स्वीकार करते हैं। अभिधामूलक के तीन : रस, वस्तु और अलंकार और लक्षणामूलक के दो : अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। वे संलक्ष्यक्रमध्वनि के तीन भेद बताते हैं : १. शब्दशक्तिमूलक, २. अर्थशक्तिमूलक, ३. उभयशक्तिमूलक। इनमें तो कोई नवीनता नहीं है। पर, अर्थशक्तिमूलक के वे आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। कारण, वे कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध को भी कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध में समाविष्ट कर लेते हैं। रस-निष्पत्ति के बारे में वे अभिनव गुप्त का अनुसरण करते हैं। मात्र वे रत्यादि स्थायिभावविशिष्ट चिति को रस कहते हैं, जबकि अभिनवादि भग्नावरण

चिति का विषय बने स्थायी को रस कहते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है। वे शान्त-रस को मानते हैं, अतः वह कुल नौ रस स्वीकार करते हैं। वीर-रस के चार प्रकारों के अलावा वे सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर का भी उल्लेख करते हैं। रसाभास का समावेश वह भावध्वनि में करते हैं। गुणों को वे केवल रस के ही नहीं वरन् रस, शब्द, अर्थ और रचना के भी धर्म मानते हैं। काव्य में रमणीयता अलंकार से सिद्ध होती है और अलंकार प्रतिभा से प्रकटित होने चाहिएँ। यों जगन्नाथ में हमें कोई नया महत्त्वपूर्ण विचार नहीं मिलता है, पर बहुत से मुद्दों की गम्भीर चर्चा प्राप्त होती है जो अनेक बार केवल तर्कबाजी में परिणत हो जाती है। समग्रतः देखने पर उन्होंने ध्वनिवादियों के मत को ही स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने भी अलंकार-निरूपण के समय व्यंग्य को ही काव्य की आत्मा माना है और मध्यम काव्य-प्रकार की चर्चा के समय स्वीकार किया है कि कोई भी वाच्यार्थ प्रतीयमान के लेश मात्र स्पर्श के अभाव में रमणीय नहीं बन सकता। ध्वनिवादी इससे पृथक् और क्या कहेंगे? केवल ध्वनि होने मात्र से कोई वस्तु काव्य नहीं बन जाती, पर यह तो ध्वनिवादियों का भी कथन है कि चारुतायुक्त होनी चाहिए,[1] और जगन्नाथ भी अलंकार-निरूपण की प्रस्तावना में यही कहते हैं।

---

१. 'विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः।' अर्थात्, अभिव्यंजनीय रस के अनुरूप विविध, शब्द, अर्थ और रचना की योजना के कारण जिसमें चारुता आती हो ऐसे काव्यों का यही (व्यंग्यार्थ) सारभूत होता है—आनन्दवर्धन ने यही कहा है। (पृ० ८७) यह समझाते हुए अभिनव ने कहा है कि जो व्यंग्यार्थ इस प्रकार चारुता रखता हो वही ध्वनि कहलाता है। और केवल व्यंग्यार्थ होने मात्र से ही सभी स्थान पर काव्य-व्यवहार नहीं चलता, यथा—आत्मा होने पर भी जीव का व्यवहार कभी-कभी ही होता है : 'तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव।' पृ० ८८। विरोधी पक्ष यह सुन कर कहता है कि 'फिर तो चारुता की प्रतीति ही काव्य की आत्मा है, यही इसका अर्थ होगा।' इसके उत्तर में अभिनव गुप्त कहते हैं कि यह उसे स्वीकार्य है, अतः यह झगड़ा तो केवल नाम का ही है। 'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात् इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति।'—पृ० १०५

सन्दर्भ-सूची

१. रसगंगाधरः (नागेशभट्ट की टीका सहित), सम्पादक—महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६।
इस लेख में 'रसगंगाधर' के पृष्ठों का उल्लेख इसी आवृत्ति के आधार पर किया गया है।

२. रसगंगाधरः। संस्कृत व्याख्याकार—पण्डित बदरीनाथ झा, हिन्दी व्याख्याकार पण्डित मदनमोहन झा, चौखम्भा विद्याभवन, बनारस, १९५५।

३. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, एस० के० दे०, १९६०।

४. काव्यप्रकाश (मराठी) सम्पादक—कृष्ण श्रीनिवास अर्जुनवाडकर और अरविंद मंगरूलकर, देशमुख प्रकाशन, पूना, १९६८।

५. ध्वन्यालोकः—(लोचन और बालप्रिया टीका सहित), काशी संस्कृत सीरीज ग्रंथमाला–१३५, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस सिटी, १९४०।
इस लेख में 'ध्वन्यालोकलोचन' के उदाहरण और स्थल-निर्देश इसी पुस्तक के आधार पर किये गये हैं।
६. दि ध्वन्यालोक ऐण्ड इट्स क्रिटिक्स, डॉ० के० कृष्णामूर्ति, एम० ए०, बी० टी०, पी-एच० डी०, काव्यालय, मैसूर।

———

औचित्य-विचार

क्षेमेन्द्र का औचित्य-विचार

आनन्दवर्द्धन पर्यन्त और उसके बाद के कितने ही आलंकारिकों के ग्रन्थों में औचित्य-सम्बन्धी थोड़ी-बहुत चर्चा दिखायी दे जाती है, पर इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले तो अभिनव गुप्त के शिष्य काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ही हैं। वे औचित्य को रस का जीवितभूत और सौन्दर्यानुभव में चमत्कार-साधक तत्त्व मानते हैं।[1] उनके मतानुसार तो औचित्य ही रस-सिद्ध काव्य का स्थिर और अनश्वर जीवित है। अलंकार केवल अलंकार हैं और गुण केवल गुण हैं। जिस काव्य में उसका जीवित रूप तत्त्व औचित्य ढूँढ़ने पर भी न मिलता हो उसके अलंकार किस काम के ? उसके गुण व्यर्थ हैं। गिनते रहने से क्या लाभ ?[2] यों क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य का जीवित मानते हैं और उन्हें गुण तथा अलंकार से भिन्न मानते हैं। इसी बात पर बल देते हुए वे कहते हैं कि 'अब जिसकी परिभाषा दी जायेगी वह औचित्य तो काव्य का स्थिर और अविनश्वर जीवित है। उसके अभाव में काव्य गुणालंकारों से युक्त होने पर भी निर्जीव है।[3] साथ ही वे यह भी कहते हैं कि उचित 'स्थान पर प्रयुक्त होने पर ही अलंकार अलंकार-रूप—शोभारूप होता है और औचित्यच्युत न होने पर ही गुण गुण बने रहते हैं अन्यथा दोष बन जाते हैं।'[4]

इस प्रकार औचित्य का माहात्म्य स्थापित करने के पश्चात् वे औचित्य की परिभाषा इस रूप में देते हैं : 'जिसके जो अनुरूप हो, आचार्य उसे उचित कहते हैं और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है।'[5] इस व्याख्या से औचित्य के

---

१. कृत्वापि काव्यालङ्कारा क्षेमेन्द्रः कविकर्णिकाम्।
तत्कलङ्कं विवेकं च विधाय विबुधप्रियम् ॥२॥
औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ ३ ॥

२. काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ ४ ॥
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥१५॥

३. औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य।
तेन विनास्य गुणालङ्कारयुक्तस्यापि निर्जीवित्वात् ॥

४. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥६॥

५. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥

स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता; वह तो जब हम उनके द्वारा चर्चित दृष्टान्तों को देखते हैं तभी स्पष्ट होता है।

तदनन्तर वे तीन कारिकाओं में औचित्य के अट्ठाईस स्थानों का निर्देश करते हैं :

'पद में, वाक्य में, प्रबन्ध के अर्थ में, गुण में, अलंकार में, रस में, क्रिया में, कारक में, लिंग में, वचन में, विशेषण में, उपसर्ग में, निपात में, काल में, देश में, कुल में, व्रत में, तत्त्व में, सत्त्व में, अभिप्राय में, स्वभाव में, सारसंग्रह में, प्रतिभा में, अवस्था में, विचार में, नाम में, आशिष में, और काव्यांग में निहित औचित्य को व्याप्त जीवित कहते हैं।'[१]

आशय यह है कि काव्य का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिसमें औचित्य की अपेक्षा न हो। औचित्य काव्य के कण-कण में व्याप्त उसका जीवित है।

तत्पश्चात् उन्होंने उपर्युक्त सभी स्थानों के औचित्य और औचित्य-भंग के क्रमशः उदाहरण देकर चर्चा की है। परन्तु जिन काव्यांगों का उन्होंने उल्लेख किया है उनकी विवेचना तथा औचित्य के दृष्टान्त तक उन्होंने नहीं दिये हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि काव्य के अंग तो अनन्त हैं और उन सभी के दृष्टान्त देने में पार नहीं आयेगा; अतः अध्येता इस प्रकार उन सभी अंगों में भी औचित्य देख लें।

विविध रसों के औचित्य की चर्चा करने के बाद रसों के मिश्रण के औचित्य के बारे में उन्होंने कहा है कि 'जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि रस यदि कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये गये हों, तो विचित्र अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं, उसी प्रकार शृंगारादि रसों के विषय में भी है। उनके पारस्परिक आश्लेष-मिश्रण में औचित्य का निर्वाह होना चाहिए। अनौचित्यपूर्ण मिश्रण किसे पसन्द आयेगा?'[२]—पृ० १७–१८।

क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थ में खुल कर दृष्टान्त देते हैं और उनके औचित्य की चर्चा करते हैं, अतः वह जो कहना चाहते हैं पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। उनकी निरूपण-पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यही है। वैसे उनके निरूपण में शास्त्रीय व्यवस्था कम ही है।

---

१. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥८॥
उपसर्गे, निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसङ्ग्रहे ॥९॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥१०॥

२. यदा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा मिथः ॥१७॥
तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यादौचित्यरक्षणम्।
अनौचित्येन संसृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥१८॥

इस रूप मे देखें तो इन्हीं वस्तुओं की आनन्दवर्द्धन द्वारा ध्वन्यालोक में की गयी चर्चा अधिक शास्त्रीय, अधिक तर्कसंगत और अधिक व्यवस्थित है। उसे भी हम देखें।

आनन्दवर्द्धन का औचित्य-विचार

हम ऊपर देख आये हैं कि क्षेमेन्द्र की औचित्य-व्याख्या उसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती। आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने इसे अधिक स्पष्ट किया है। अभिनव गुप्त ने स्पष्टतः कहा है कि केवल औचित्य औचित्य कहने का कोई अर्थ नहीं है। कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में उचित या अनुचित होती है। इस प्रकार औचित्य दो वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध है। अतः जब किसी वस्तु के सन्दर्भ में अमुक वस्तु के उचित या अनुचित होने पर विचार करना हो तो पहले उस वस्तु को जान लेना चाहिए, ऐसा करने पर ही दूसरी वस्तु के औचित्य-अनौचित्य पर विचार हो सकता है। अब काव्य के मामले में जिन्हें लेकर दूसरी सभी बातों पर विचार करना है वे वस्तु रसभावादि के अलावा और कुछ नहीं हैं।[1] इसकी स्पष्टता अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की अपनी लोचन टीका में अतिशयोक्ति की चर्चा करते समय की है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य के सभी अंगों की परीक्षा इस रूप में करनी चाहिए कि सम्बद्ध अंग काव्य के अन्तर्यामी जीवित रूप रसभावादि की दृष्टि से उचित हैं या नहीं, इसी का नाम औचित्य-विचार है। और आनन्दवर्द्धन ने रस को ही केन्द्र में रख कर औचित्य की चर्चा की है।

रस, गुण और संघटना का सम्बन्ध

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य काव्य की ध्वनि वर्ण, पद और वाक्य की भाँति संघटना में भी व्यक्त होती है, यह कहने के बाद संघटना के स्वरूप का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि समास रहित, मध्यम समासवाली और दीर्घ समासवाली तीन प्रकार की संघटना है।[2] यहाँ वे गुण, संघटना और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हैं। गुण और संघटना के पारस्परिक सम्बन्ध के मामले में तीन विकल्प सम्भव हैं :

१. गुण और संघटना एक ही हों,
२. दोनों अलग हों और गुण संघटना के आश्रित हों, अथवा
३. संघटना गुण के आश्रित हो।

---

१. उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्ष्येदमौचित्यंनाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः।—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ४५।

औचित्यनिबन्धनम् रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्यामि मुख्यं जीवितमित्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित्—औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वन्यात्मभूतेनेति ते स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रयुक्ताः।—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ४६९।

२. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥३–५

गुण और रस के सम्बन्ध नित्य हैं जबकि संघटना के बारे में ऐसा नहीं है। इस नियम में किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं है कि अमुक रस में अमुक ही गुण होते हैं, पर संघटना के बारे में स्थिति ही अलग है। कोई भी संघटना किसी भी रस को व्यंजित कर सकती है। माधुर्य और प्रसाद केवल करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार को ही व्यक्त कर सकते हैं, ओज केवल अद्‌भुत, रौद्र आदि को ही अभिव्यक्त कर सकता है, करुण को नहीं। पर इसके विपरीत दीर्घ समासवाली संघटना भी श्रृंगार को और समासरहित संघटना भी वीर या रौद्र को व्यंजित कर सकती है। इस प्रकार गुण और संघटना एक नहीं हैं, और गुण संघटना के आश्रित नहीं है।

जिस प्रकार गुण और रस का सम्बन्ध नित्य है उसी प्रकार से गुण और संघटना का सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। माधुर्य गुण तीनों प्रकार की संघटना में हो सकता है। सामान्यतः यह माना जाता रहा है कि ओज गुण रौद्र के साथ अविभाज्य रूप में संकलित है और जहाँ ओज गुण हो वहाँ दीर्घ समासवाली संघटना भी होती ही है। पर वस्तुतः ओज गुण का तो रस के साथ ही सम्बन्ध है, संघटना के साथ नहीं। अतः समास-रहित संघटना में भी ओज गुण सम्भव है और वह रौद्र-रस को व्यक्त करता है। इस तरह गुण और संघटना के क्षेत्र भी भिन्न हैं। दीर्घ समासवाली संघटना रौद्र का निरूपण करने में प्रयुक्त होती है, पर उस समय भी अगर दीर्घ समासा संघटना के साथ प्रसाद गुण का मेल होता है तभी रस-निष्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार, करुण की व्यंजना भी अकेली समासरहित संघटना नहीं कर सकती। उसे प्रसाद गुण की सहायता की आवश्यकता रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि संघटना गुणों की सहायता से ही रसों को व्यंजित कर सकती है। आशय है, वह गुणों के आश्रित है। इसका अभिप्राय यह है कि संघटना का नियमन करने वाला रस भी नहीं है और गुण भी नहीं है। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार रस संघटना का नियमन नहीं करते क्योंकि जहाँ रस नहीं होता वहाँ भी संघटना तो होती ही है। साथ ही, संघटना जब रस को व्यंजित करती है उस समय भी वह वक्ता आदि के औचित्य द्वारा ही करती है। इसलिए यह निश्चित होता है कि संघटना का नियमन करनेवाला तत्व वक्ता और वाच्य का औचित्य है।[1]

वक्ता और वाच्य

वक्ता के विषय में विशेष स्पष्टता करते हुए वे कहते हैं कि वक्ता या तो कवि स्वयं होता है या कवि-निरूपित कोई पात्र होता है। वह पात्र भी रसभाववाला या रसभावरहित होगा; साथ ही, वह रस भी कथा-नायक के आश्रित होगा अथवा उसके विपक्ष के आश्रित होगा। कथानायक भी धीरोदात्त होगा अथवा इससे रहित होगा। इसी तरह वाच्य की विशेष स्पष्टता करते हुए वह कहता है कि वाच्य भी ध्वन्यात्मक रस का अंग होगा या रसाभास का अंग होगा, अभिनेयार्थ अर्थात्

१. तन्नियमे हेतुरौचित्य वक्तृवाच्ययोः ॥३–६

अभिनय द्वारा प्रकट करना होगा या अनभिनेयार्थ होगा, उत्तम प्रकृति के आश्रित होगा अथवा इससे भिन्न होगा। इस प्रकार वक्ता और वाच्य के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। इसमें भी वक्ता अर्थात् कवि स्वयं अथवा कवि-निर्मित पात्र अगर रस-भावहीन है तो उसमें किसी भी संघटना का उपयोग किया जा सकता है। पर यदि कवि या कवि-निर्मित पात्र रसभावयुक्त है और रस मुख्य पात्र के अधीन रह कर ध्वनि की आत्मा के रूप में है तो वह संघटना समासरहित अथवा मध्यमसमासवाली ही होनी चाहिए। कारण, रस का अगर मुख्य रूप से प्रतिपादन करना हो तो उसकी प्रतीति में व्यवधान उत्पन्न करने वाले अथवा उसके विरोधी तत्वों का सर्वथा परिहार होना चाहिए। दीर्घ समासवाली संघटना कई बार बाधक बन जाती है, इसीलिए उसका अत्यन्त आग्रह नहीं रखना चाहिए—विशेषतः अभिनेयार्थ काव्य में अर्थात् नाटक में। इसके अतिरिक्त करुण और विप्रलम्भ शृंगार में भी यही होना चाहिए क्योंकि ये रस अत्यन्त सुकुमार हैं। इनमें तनिक भी अस्वच्छता होने पर अर्थ-बोध मन्थर बन जाता है। फिर भी जब रौद्रादि रस का प्रतिपादन करना हो तब मध्यम समासवाली संघटना और धीरोदात्त नायक हो तो दीर्घ समासवाली संघटना का उपयोग किया जा सकता है। इस तरह के प्रसंगों में रसोचित काव्य के लिए ऐसी संघटना की आवश्यकता होती है, अतः उसका नितान्त परिहार नहीं करना चाहिए।

इसके बाद प्रसाद का महत्त्व समझाते हुए वे कहते हैं कि प्रसाद सभी रसों में और सभी प्रकार की संघटना में साधारण है। इसके अभाव में समासरहित संघटना भी करुण या विप्रलम्भ शृंगार को व्यक्त नहीं कर सकती और इसके मौजूद होने पर यह भी नहीं है कि मध्यमसमासवाली संघटना भी इन रसों को व्यक्त न कर पाये। अतः प्रसाद का सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए।

काव्य-भेद से संघटना-भेद

इस तरह, संघटना के नियमन में वक्ता और वाच्य के औचित्य को समझाने के बाद वे कहते हैं कि इसके अलावा एक दूसरा तत्त्व भी संघटना का नियमन करता है क्योंकि काव्य-भेद से संघटना में भी अन्तर आता है।[1] यहाँ काव्य-भेद से आशय काव्य के अलग-अलग प्रकारों से है। यथा—निबद्ध रचना में मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक और कुलक अर्थात् क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच श्लोक-वाली रचनाएँ, पर्यायबन्ध अर्थात् वसन्तादि किसी ऋतु का वर्णन करने वाली रचनाएँ, परिकथा अर्थात् चार पुरुषार्थों में से किसी एक को लेकर अनेक वृत्तान्तों का वर्णन करने वाली कथा, कथा के अमुक खण्ड का वर्णन करने वाली खण्डकथा अथवा खण्डकाव्य, जिसमें अनेक वृत्तान्तों का वर्णन हो और वे सभी फल तक पहुँची हों ऐसी सकलकथा और सर्गबद्ध महाकाव्य; अभिनेयार्थ में दस प्रकार के रूपक और

१. विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥३–७

अनिबद्ध रचनाओं में आख्यायिका और चम्पू, इन सभी साहित्य प्रकारों का भी संघटना के चयन पर प्रभाव पड़ता है जो अब समझ में आता है। जैसा कि हम पहले देख आये हैं कि संघटना-प्रकार के उपयोग का प्रश्न तभी उठता है जबकि काव्य रसपरक हो; इसलिए अगर मुक्तक रसपरक है तो समासरहित अथवा मध्यम समासवाली संघटना का उपयोग करना चाहिए, वहाँ मनचाही किसी भी संघटना का उपयोग नहीं किया जा सकता। संदानितक आदि में तो विकट बन्ध ही आवश्यक होने के कारण मध्यमसमासवाली अथवा दीर्घसमासवाली संघटना का ही उपयोग करना चाहिए। ये मुक्तकादि अगर किसी प्रबन्ध के अंश हों तो प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। यह मत आनन्दवर्द्धन का है। पर्यायबन्ध में समासरहित या मध्यमसमासवाली संघटना ही ठीक है। कदाचित् अर्थ के औचित्य के कारण दीर्घसमासवाली संघटना का उपयोग करना पड़े तो भी उसमें परुषा और ग्राम्यावृत्ति का परिहार करना चाहिए। परिकथा में किसी भी संघटना का उपयोग किया जा सकता है क्योंकि उसमें केवल वृत्तान्तों का ही सम्बन्ध बनाये रखना होता है, रसबन्ध महत्त्वपूर्ण नहीं होता। खण्डकथा और सकलकथा में तो दीर्घसमासवाली संघटना के प्रयोग पर कोई आपत्ति नहीं है, पर वहाँ भी रसानुरूप वृत्ति के औचित्य को बनाये रखना चाहिए। रसतात्पर्यवाले सर्गबद्ध महाकाव्य में रसानुरूप औचित्य की रक्षा होनी चाहिए। वहाँ मनमानी संघटना का उपयोग नहीं हो सकता। अभिनेयार्थ काव्य में तो रसतात्पर्य का ही आग्रह रखना चाहिए। आख्यायिका और कथा में गद्य अधिक होता है और गद्य का मार्ग छन्दोबद्धता से भिन्न होता है, अतः उसके लिए नियम निश्चित नहीं हैं। इस पर भी, इसमें छन्दोबद्ध रचना के लिए निर्धारित औचित्य के नियमों का ही पालन होना चाहिए।[१] अर्थात्, कवि अथवा पात्र अगर रसभावयुक्त न हो तो यथेच्छ और रसभावयुक्त हो तो उपर्युक्त नियमों का पालन कर रचना करनी चाहिए। इसमें भी विषय अर्थात् काव्य के प्रकार का औचित्य बनाये रखना चाहिए। आख्यायिका में तो अधिकांशतः मध्यमसमासवाली और दीर्घसमासवाली संघटना ही प्रयुक्त होनी चाहिए। कारण, गद्य में सौन्दर्य विकटबन्ध से ही आता है। कथा में विकटबन्ध की प्रचुरता अपेक्षित होती है, फिर भी रसानुरूप औचित्य का अनुसरण करना चाहिए। हम कादम्बरी में अनेक स्थानों पर, विशेषतः विप्रलम्भ और करुण के निरूपण के समय, नितान्त सीधी-सादी समासरहित छोटे-छोटे वाक्योंवाली रचना देखते हैं। इसलिए इन सभी का सार यह है कि रचना सदा रसानुरूप औचित्य से ही सुशोभित होती है, परन्तु विषय अर्थात् काव्य के प्रकार-भेद से उसमें थोड़ा बहुत अन्तर आ जाता है।[२] अथवा यों कहें कि पद्य की भाँति गद्य में भी रचना रसबन्ध

१. एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥३–८॥

२. रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥३–९॥

के औचित्य का अनुसरण करती है, पर काव्य के प्रकार-भेद से उसमें थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है, सर्वथा अन्तर नहीं आता। इस प्रकार गद्य में आख्यायिका में भी विप्रलम्भ शृंगार और करुण में अतिदीर्घ समासवाली संघटना अच्छी नहीं लगती। नाटिका आदि में भी समासरहित रचना रखनी चाहिए आदि।

प्रबन्ध में निर्वाहयोग्य औचित्य

वर्ण, पद, वाक्य और संघटना की भाँति प्रबन्ध में भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि व्यक्त होती है। इसीलिए वह अब इसकी चर्चा उठाता है। पद या वाक्य की ध्वनि की भाँति समग्र प्रबन्ध की भी ध्वनि होती है। समग्र रामायण और महाभारत को भी महाकाव्य कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वाक्यों में पद जिस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से समन्वित होकर एक अर्थ व्यक्त करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रबन्ध के भी भिन्न-भिन्न अंश अपरिहार्य हो कर आने चाहिए और सभी अंशों के बीच पूरा औचित्य होना चाहिए। साथ ही, वे सभी अच्छे ढंग से एक दूसरे से ग्रथित हो कर एकत्त्व प्राप्त करने वाले होने चाहिए। सम्पूर्ण प्रबन्ध एक वाक्य बना हुआ होना चाहिए। प्रबन्ध को रसाभिव्यंजक बनाने के लिए आनन्दवर्द्धन पाँच वस्तुओं की आवश्यकता मानता है जो क्रमशः महत्त्वपूर्ण हैं, अर्थात् पहले का महत्त्व सबसे अधिक है, दूसरी का उससे कम है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समझ लेना चाहिए। अब हम इन पाँचों वस्तुओं को क्रमशः देखेंगे।

१. प्रबन्ध के रसाभिव्यंजक बनने के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि कथा का शरीर विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी के औचित्य से सुन्दर बना हुआ होना चाहिए।[१] अर्थात् कथा में विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी का औचित्य पूर्णतः बनाये रखना चाहिए। मान लीजिए कि शृंगार का निरूपण करना है तो कथा ऐसी लेनी चाहिए जिसमें नायक-नायिका का परस्पर औचित्य हो और जिसमें वसन्त ऋतु, माला आदि उद्दीपन विभाव और हर्ष, धृति आदि संचारी भाव स्पष्टरूप से आते हों। अब हम क्रमशः इन चारों औचित्यों पर विचार करेंगे।

(क) विभावौचित्य तो प्रसिद्ध है, इस प्रकार जो कहा गया है उसका अर्थ यह है कि वह लोक-प्रसिद्ध है और भरतादि आचार्यों ने उसका विस्तार से निरूपण किया है। लोक में अमुक प्रकार का प्रेम उचित माना जाता है और अमुक प्रकार का अनुचित। किसी स्थिति में क्रोध उचित होता है तो किसी स्थिति में अनुचित। इसी तरह दूसरे भावों के विषय में भी कहा जा सकता है। भरत ने नाटक को लोकानुकीर्त्तन कहा है। शास्त्र-रचना लोक-स्वभाव के आधार पर ही होती है। अतः नाटक में लोक ही प्रमाण है। लोक की प्रकृति और प्रवृत्ति तो अनन्त हैं, अतः शास्त्र में उसका निरूपण सम्भव नहीं है। शास्त्र तो मात्र दिग्दर्शन कर सकते हैं। तदनुसार ही विभावौचित्य

---

१. विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥३–१०॥

को लेकर साहित्यदर्पणकार ने कहा है कि उपनायक विषयक, मुनि-गुरु-पत्नी आदि के प्रति, अनुभयनिष्ठ रति तथा प्रतिनायकनिष्ठ और अधम पात्र तिर्यक् इत्यादि के प्रति शृंगार में अनौचित्य होता है। गुरु आदि के प्रति कोप, हीनपात्रनिष्ठ शान्त, गुरु आदि पर अवलम्बित हास्य, ब्रह्म-वध आदि के प्रति उत्साह, अधम पात्रगत वीर और उत्तम पात्रगत भयानक अनुचित माने गये हैं। इसी प्रकार उद्दीपन विभावों के भी औचित्य का ध्यान रखना चाहिए।

(ख) भावौचित्य अर्थात् प्रकृति औचित्य। प्रकृति के दो प्रकार से भेद किये जा सकते हैं: १. उत्तम, मध्यम और अधम, तथा २. दिव्य, अदिव्य (मानुष), दिव्यादिव्य (दिव्य-मानुष)। समान परिस्थिति में अलग-अलग प्रकृति के पात्र अलग-अलग ढंग से व्यवहार करते हैं, उनके मन में पृथक् पृथक् भाव उत्पन्न होते हैं। बाघ को देख कर भीरु आदमी भय प्राप्त करता है तथा भाग जाता है और किसी वीर में उत्साह उत्पन्न होता है और वह शस्त्रों को सम्हालने लगता है। अतः पात्र की प्रकृति का ठीक-ठीक अनुसरण कर अगर स्थायी भाव का निरूपण किया जाय और उसमें किसी विरोधी भाव का मिश्रण न हो तो और कोई अनुकूल या उदासीन भाव मुख्य न बन जाता हो तो स्थायी भाव औचित्यपूर्ण माना जायगा। अन्यथा केवल अदिव्य पात्रों से दिव्य पात्रों के और दिव्य पात्रों से अदिव्य पात्रों के काम करवाये जायें तो यह अनुचित होगा। इसी प्रकार, केवल अदिव्य राजा आदि के निरूपण में अगर सात समुद्रोल्लंघन जैसे कार्यों का वर्णन किया जाय तो वह सुन्दर होते हुए भी नीरस बन जाता है; इस नीरसता का कारण अनौचित्य है। इस प्रकार की किंवदन्ती है कि सातवाहन आदि राजा नागलोक गये थे तो सारी पृथ्वी का भरण-पोषण करने वाले राजाओं के अलौकिक प्रभाव का वर्णन करने में कैसा अनौचित्य?—अगर इस तरह का प्रश्न उठे तो कहें कि इसमें अनौचित्य नहीं है। हमारा तो केवल इतना ही कहना है कि केवल अदिव्य पात्रों से सम्बद्ध उत्पाद्य वस्तुवाली कथा के पात्रों में दिव्य पात्रों वाला औचित्य न लाया जाय। अर्थात् उनसे वे कार्य न करवाये जायें जो केवल दिव्य पात्र ही कर सकते हैं। पर अगर दिव्यादिव्य पात्रों की कथा हो तो उसमें इस प्रकार के दिव्यादिव्य औचित्य की योजना में आपत्ति नहीं है, यथा---पाण्डवों की कथा में। सातवाहन आदि की कथा के विषय में जितनी भी बातें प्रचलित हों उतनी ही की योजना की जाय यही उचित है। इसके अलावा जो कुछ योजित होगा वह भी उनमें अनुचित ही लगेगा। अतः इस मामले में सार की बात इतनी ही है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग में और कोई कारण नहीं है। प्रसिद्ध औचित्य का निरूपण ही रस की पराविद्या है—इसमें ही रसाभिव्यक्ति की मूल चाभी है।[1]

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

इसी कारण भरत ने नाटक में प्रख्यात वस्तु और प्रख्यात व उदात्त नायक आवश्यक माना है। इस तरह करने से नायक के औचित्य-अनौचित्य के बारे में कवि की भूल नहीं होती। जिस नाटक की वस्तु उत्पाद्य होती है उसमें अप्रसिद्ध और अनुचित नायक के स्वभाव-वर्णन में बड़ी भूल हो जाना सम्भव है।

रति में औचित्य की आवश्यकता

यहाँ एक प्रश्न इस प्रकार का उठाया जाता है कि अगर आपको उत्साह आदि के वर्णन में दिव्यादिव्य आदि के औचित्य की परीक्षा करनी हो तो करें पर रति आदि में इसकी क्या आवश्यकता है? रति तो भारतवर्ष के उचित व्यवहार के आधार पर ही दिव्य पात्रों की भी बतायी जाती है। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि 'नहीं, ऐसा नहीं है।' इसमें अगर अनौचित्य का उल्लंघन हुआ तो बहुत बड़ा दोष हो जायगा। कारण, उत्तम प्रकृति वाले पात्र का शृंगार-निरूपण यदि अधम प्रकृति के औचित्य के अनुसार किया जाय तो क्या वह उपहास का पात्र नहीं होगा? शृंगार को लेकर भारतवर्ष में तीन प्रकार के प्रकृति-औचित्य हैं। इसमें दिव्यौचित्य शृंगार-निरूपण में अनुपयोगी है—यदि आप ऐसा कहते हैं तो हम यह नहीं कहते कि शृंगार के बारे में दिव्यौचित्य अलग है। तो आप क्या कहते हैं? हम यह कहते हैं कि भारतवर्ष में उत्तम नायक और राजाओं का शृंगार जिस रूप में निरूपित होता है उसी रूप में दिव्य पात्रों का शृंगार भी अगर निरूपित किया जाय तो वह अच्छा होगा। नाटकों में राजाओं का शृंगार-निरूपण प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार के रूप में नहीं किया जाता। उसी के अनुसार देवों के विषय में भी ग्राम्य शृंगार का त्याग किया जाना चाहिए। नाटक आदि में अभिनय करना होता है और यदि सम्भोग शृंगार का अभिनय किया जाय तो वह असभ्य हो जायगा। आप अगर इसीलिए कहते हैं कि नाटकों में इसका त्याग किया जाता है, तो कहना है कि यह बात नहीं है। अगर अभिनय में इस प्रकार के विषय से असभ्यता आती है तो काव्य में इस विषय से आने वाली असभ्यता को कैसे रोका जा सकता है? इसलिए अभिनेयार्थ तथा अभिनेयार्थ काव्य में उत्तम प्रकृति के राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन किया जाय तो यह माता-पिता के सम्भोग-वर्णन के समान ही अत्यन्त असभ्य है। उत्तम देवताओं के बारे में भी यही है।[१]

साथ ही, सम्भोग शृंगार का सुरत ही एक मात्र प्रकार नहीं है; परस्पर प्रेम-दर्शन आदि दूसरे भी बहुत से प्रकार सम्भव हैं। तो फिर उत्तम प्रकृति के विषय में उसका

---

१. नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्—न, यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्।—३३२

ही निरूपण क्यों न किया जाय ?[१] इसी तरह उत्साह की भाँति रति आदि में प्रकृति-औचित्य का अनुसरण करना चाहिए और इसी तरह से विस्मय आदि में भी। इन मामलों में महाकवि भी बिना विचार किये व्यवहार करते दिखायी देते हैं। यह भी दोष ही है। यह दोष कवि की शक्ति के कारण ढँक जाने से ध्यान में नहीं आता, बस। यह पहले कहा जा चुका है।

(ग) **अनुभावौचित्य** भरत आदि के द्वारा विस्तार से बताया गया है और अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस भाव के जो चेष्टा अनुकूल हो वही की जानी अथवा निरूपित होनी चाहिए। इसे ही अनुभाव-औचित्य का निर्वाह कहते हैं। मान लो कि कोई शोक का अभिनय मुँह खोल कर करे अथवा भ्रम की स्थिति में गम्भीरता धारण करे तो वह अनुचित ही होगा। इसी तरह अगर कोई नायिका किसी कामी द्वारा सम्बोधित होने पर क्रोध के उद्वेग को हास्य द्वारा व्यक्त करे तो वह अनुचित होगा।

(घ) **संचारी का औचित्य :** अगर वेश्या में लज्जा का अथवा कुलस्त्री में लज्जा-हीनता का निरूपण किया जाय तो अनुचित माना जायगा। साथ ही, उत्तम प्रकृति के पात्रों में जैसी लज्जाशीलता होती है वैसी अधम प्रकृति के पात्रों में नहीं होती, अतः लज्जा के निरूपण में भी प्रकृति के अनुसार भेद होंगे।

प्रबन्धौचित्य का सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण काम यह है कि इन चारों औचित्यों का ध्यान रख कर कथा-शरीर का निर्माण करे। इसीलिए अन्त में वह कवि को पुनः सूचना देता है कि इतना कहना चाहिए कि भरतादि के लक्षण-ग्रन्थों का अनुकरण कर, महाकवियों के प्रबन्धों का अध्ययन कर तथा अपनी प्रतिभा का अनुसरण कर कवियों को सावधान होकर विभावादि के औचित्य का भंग न हो, इसका पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

ऐतिहासिक और कल्पित वस्तु

यह कहा गया है कि ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा कल्पित भी औचित्यपूर्ण कथा-शरीर धारण कर रसाभिव्यंजक बन जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहासादि में रसपूर्ण लगने वाली अनेक प्रकार की कथाएँ होती हैं। फिर भी इनमें जो विभावादि के औचित्य से पूर्ण है उन्हें ही ग्रहण करना चाहिए, शेष नहीं। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक की अपेक्षा कल्पित कथा में अधिक सावधान रहना चाहिए। कारण, उसमें अगर सावधान न रहे तो कवि के द्वारा अव्युत्पत्ति के कारण बहुत बड़ा दोष हो जाना सम्भव है। और अगर ऐसा दोष हो गया तो कवि यह बहाना नहीं बता सकता कि मैंने तो इतिहास का अनुसरण कर लिखा है और अगर वह यह बहाना बताये भी तो वह चल नहीं सकता; इस तरह कहने से दोष नहीं मिट जाता। उत्पाद्य वस्तु

---

१. न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते।—३३३

का कथा-शरीर इस प्रकार रचना चाहिए कि जिससे सभी कुछ रसमय प्रतीत हो।[१] इस तरह करने का यही उपाय है कि विभावादि के औचित्य का पूरी तरह से निर्वाह हो। साथ ही, सिद्ध रस के लिए रामायण आदि प्रख्यात प्रबन्धों में अपनी इच्छा से उत्पाद्य वस्तु नहीं जोड़ देनी चाहिए। और अगर जोड़नी ही पड़े तो वह रस-विरोधी तो नहीं होनी चाहिए।[२]

२. प्रबन्ध की रसव्यंजकता के लिए दूसरी बात यह महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास का अनुसरण करते समय रस के प्रतिकूल अगर कोई स्थिति आती हो तो उसे छोड़ कर कल्पित वस्तु के द्वारा अभीष्ट रस के अनुकूल कथा का उत्कर्ष दिखाना चाहिए।[३] कालिदास आदि ने यही किया है। कवि को काव्य रचने के समय सम्पूर्णतः रसपरतन्त्र रह कर ही व्यवहार करना चाहिए। इतिहास में अगर कोई स्थिति रस के प्रतिकूल आती है तो उसका त्याग करना चाहिए और रसानुकूल दूसरी स्थिति की कल्पना कर लेनी चाहिए। कवि का काम इतिहासमात्र का निर्वाह करना नहीं है। वह इतिहास से ही सिद्ध हो जाता है।[४]

३. प्रबन्ध की रसव्यंजकता के लिए तीसरी मुख्य बात यह है कि सन्धियों और उनके अंगों आदि का रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से संघटन करना चाहिए। केवल शास्त्र के निर्वाह के लिए यह न किया जाय।[५] इसका अर्थ यह है कि लक्षण-ग्रन्थों में प्रबन्ध की जो सन्धियाँ और उनके अंगोपांग बताये गये हैं उन सभी की योजना 'रत्नावली' के अनुसार रसाभिव्यक्ति को ध्यान में रख कर की जानी चाहिए। जहाँ इस व्यवस्था के निर्वाह से हानि पहुँचती हो वहाँ केवल काव्यशास्त्र का पालन करने के हेतु से इन अंगोपांगों की योजना नहीं करना चाहिए। 'वेणीसंहार' में इसी प्रकार हुआ है। यहाँ प्रतिमुख-सन्धि का विलास नामक अंग योजित करने के उपक्रम में रस की हानि हुई है, जो नहीं किया जाना चाहिए।

४. प्रबन्ध की रसव्यंजकता के लिए चौथा यह महत्त्वपूर्ण है कि प्रसंगानुसार रस के

---

१. कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तयातया।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

२. सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

३. इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयम्॥ ३-११।

४. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत। न हि कवेरितिवृत्त-मात्रनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

५. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥ ३-१२॥

उद्दीपन और शमन का निरूपण होते रहना चाहिए।[1] सतत एक ही रस की प्रगाढ़ता निरूपित करने का प्रयास नहीं होना चाहिए। अगर एक ही रस का परिमर्दन किया जायगा तो वह मालती के पुष्प की भाँति कुम्हाला जाता है। साथ ही, अगर इतिहास-निर्वाह के लिए किसी रस को लम्बे समय तक छोड़ देना पड़े तो बीच-बीच में उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिए जिससे वह बिल्कुल ओझल न हो जाय। 'तापसवत्सराज' में इस युक्ति को आजमाया गया है।

५. प्रबन्ध की रसव्यंजकता के लिए अन्तिम पाँचवीं बात यह है कि शक्ति होने पर भी अलंकारों की योजना औचित्यानुसार करनी चाहिए।[2] अनेक बार शक्तिशाली कवि भी अलंकार की योजना करते समय केवल उसी में लीन हो जाते हैं और रस की चिन्ता के बिना ही प्रबन्ध का आरम्भ कर देते हैं। उन्हें चेताने के लिए यह लिखा गया है। प्रबन्धों में केवल अलंकार-योजना में ही आनन्द लेने वाले और रस की अपेक्षा पूरी न करने वाले कवि भी देखे जाते हैं।

इस प्रकार, प्रबन्ध में निर्वाह किये जाने वाले औचित्य को विस्तार से समझाने के बाद और यह कहने के बाद कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य की आत्मा रसादि है जो वर्ण, पद, वाक्य और प्रबन्ध से व्यक्त होती है, कहने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता, फिर भी कवि-सहृदयों को सिखाने के लिए वे कहते हैं कि यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कितनी ही बार सुप् (संज्ञा को लगने वाला प्रत्यय), तिङ् (क्रियापद को लगने वाला प्रत्यय), वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय और समास—इन सभी की विशेषता से भी द्योतित होती है। अर्थात् अगर ये सभी वस्तुएँ समुचित रूप से प्रयुक्त हुई हों तो वे भी रसादि की व्यंजक बन सकती हैं। क्षेमेन्द्र की औचित्य-स्थानों की सूची पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि उन्होंने इन अंगों को स्थान दिया है, उसका संकेत, सम्भव है, उन्हें यहीं से मिला हो। वहाँ उन्होंने इन और इन जैसे अंगों की पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर चर्चा की है। हम यहाँ आनन्दवर्द्धन द्वारा दिये गये एक ही श्लोक को जरा विस्तार से देखेंगे। उसने एक ही श्लोक में इन सभी अंगों के विशेष उपयोग से अर्थात् औचित्यपूर्ण योजना से प्रकट होने वाली व्यंजना को समझाया है। 'हनूमन्नाटक' के चौदहवें अंक में राम राक्षसों का विनाश करते हैं उस समय क्रुद्ध हुआ रावण आत्मतिरस्कार करता हुआ बोलता है :

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक्-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

१. उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः॥ ३-१३॥
२. अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥ ३-१४॥

चर्चा में कुछ सहायता मिल सके इसलिए मैं इसका एक चलता हुआ-सा अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ :

मेरे कोई शत्रु हों यही मेरे लिए अपमान है, उस पर भी यह तापस ? वह भी यहाँ राक्षसकुल का वध कर रहा है और रावण जी रहा है, यह आश्चर्य की बात है। शक्र के जीतने वाले इन्द्रजित को धिक्कार है, कुम्भकर्ण को जगाने से भी क्या फल हुआ ? स्वर्ग की छोटी गँउटिया को लुण्ठित करके वृथा फूली हुई मेरी इन भुजाओं से भी क्या लाभ ?

'मेरे शत्रु हों यही धिक्कार की बात है'—इसमें विभक्ति, सम्बन्ध और वचन अभिव्यंजक हैं। 'मेरा' प्रथम पुरुष सर्वनाम के एकवचन की सम्बन्ध-विभक्ति का रूप है। इसकी व्यंजना यह है कि मैं अकेला ही जगत् को नष्ट करने में समर्थ हूँ। मुझ जैसे के कोई शत्रु हो यही आश्चर्य की बात है। 'मेरे' सम्बन्ध विभक्ति है। इसकी व्यंजना यह है कि मेरा कोई शत्रु हो और मेरा किसी के साथ वध्य और घातक का सम्बन्ध हो यह असम्भव है। कारण, मेरे साथ शत्रुता करने पर कोई जीवित नहीं रह सकता। 'शत्रु' में बहुवचन का व्यंग्यार्थ यह है कि पहले तो यही आश्चर्य है कि मेरे कोई शत्रु हो फिर बहुत से शत्रुओं का तो कहना ही क्या ? 'उनमें भी यह तो तापस है।' इसमें तद्धित और निपात व्यंजक हैं। 'तापस' शब्द में 'वाला' अर्थ का 'अण्' तद्धित प्रत्यय है और 'अपि' निपात है। तापस अर्थात् जिसमें तप है वह। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि जिसमें तप तो है, पर पौरुष नहीं है। कोई वीर पुरुष मेरे सामने सिर उठाये तो समझ में आता है, पर यहाँ तो मेरे सामने एक तपस्वी ने सिर उठाया है।' वह भी यहीं राक्षसकुल का निकन्दन निकालता है। 'यहाँ' भी से शत्रु की निर्माल्यता ध्वनित होती है। ऐसा वह निर्माल्य मनुष्य भी यहीं जहाँ मैं मौजूद हूँ, जहाँ मेरा पूर्ण प्रताप प्रवर्तित है वहीं, किसी दूरस्थ स्थान पर नहीं, राक्षसकुल का संहार करता है। 'निहन्ति' में 'नि' उपसर्ग है जिसकी ध्वनि यह निकलती है कि निःशेषतः—सम्पूर्णतः संहार करता है। 'अहो, रावण जिन्दा है।' : और आश्चर्य की बात यह है कि रावण जिन्दा है। यहाँ रावण अपने लिए 'रावण' शब्द का प्रयोग करता है जिससे उसके 'अजोड़ पराक्रमशाली' होने की ध्वनि निकलती है। साथ ही, 'संहार करता है' और 'जिन्दा है'—इन दोनों क्रियाओं के रूप भी यहाँ व्यंजक हैं। रावण जिन्दा है फिर भी वह संहार करता है, कैसी असम्भव बात हो रही है।

इसकी अपेक्षा मैं मर गया होता तो अच्छा होता। 'अहो' अव्यय भी व्यंजक है। इस प्रकार इस श्लोकार्द्ध का व्यंग्यार्थ यह होता है कि 'मैं, रावण, अजोड़ पराक्रमी और सम्पूर्ण जगत् को अकेले ही जीतने में समर्थ हूँ। मुझ जैसे का कोई शत्रु हो यही आश्चर्य की बात है। फिर भी एक-दो शत्रु हो तो समझ में आ सकता है, ये शत्रु जागे हैं। शत्रु भी अगर कोई पराक्रमशाली पुरुष हो तो समझ में आ सकता है; पर वह तो तापस है जिससे पराक्रम की अपेक्षा रखी ही नहीं जा सकती। वह भी दूर हो तो कोई

बात हुई, पर वह तो यहीं, जहाँ मेरा पूर्ण प्रताप प्रवर्तित है वहीं—मेरी छाती पर सवार है; इतना ही नहीं, राक्षसकुल का संहार करता है। इस तरह का संहार मेरे मरने के बाद हुआ होता तो ठीक होता। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह देखने के लिए मैं जिन्दा हूँ।'

'धिक् धिक् शक्रजितम्'—'इन्द्रजित को धिक्कार है।' 'धिक्' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है जो धिक्कार की तीव्रता बताता है। 'इन्द्रजित' के लिए 'शक्रजित' का प्रयोग किया है जो स्वयं भी व्यंजक है। 'शक्र' का अर्थ है शत्रुओं को जीतने वाला। शत्रुओं को जीतने वाले इन्द्र को जिसने जीता था उसके लिए मानव राम को जीतना तो खिलवाड़ था, पर उस मेघनाथ की शक्ति भी काम न आयी। धूल पड़ी उस इन्द्र को जीतने वाली शक्ति पर। यहाँ 'शक्रजित' उपपद समास व्यंजक बन जाता है। 'कुम्भकर्ण को जगाया, पर उससे भी क्या हुआ?' यहाँ 'प्रबोधिवता' शब्द का उपयोग किया गया है। इसमें 'प्र' उपसर्ग का अर्थ प्रकर्ष है। 'बुध' धातु का प्रेरक रूप प्रयुक्त हुआ है जो इस बात को बताता है कि जगाने के लिए प्रयत्न करना पड़ा था। अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि अतिपरिश्रम से कुम्भकर्ण को जगाने पर भी क्या हुआ? मेघनाथ और कुम्भकर्ण के पराक्रम की बात भी भूतकाल की बात हो गयी। उसे याद करने से लाभ? अरे, मेरा खुद का पराक्रम किस काम आया? 'स्वर्ग' को एक तुच्छ गाँव की भाँति विलुण्ठित कर वृथा फूली हुई मेरी ये भुजाएँ किस काम की? यहाँ स्वर्ग को 'ग्रामटिका' कहा गया है। ग्राम का अर्थ गाँव है। इसमें अल्पार्थवाचक 'टिका' स्त्रीलिंग का प्रत्यय लगाया गया है जो क्षुद्रता और तुच्छता का बोध कराता है। स्वर्ग तो देवों का धाम है। उसे जीतना कोई हँसी-खेल नहीं है, फिर भी एक सामान्य गाँव को नष्ट करने के समान मैंने स्वर्ग को विलुण्ठित कर दिया था। 'विलुण्ठन' में 'वि' उपसर्ग की ध्वनि यह है कि निर्दयतापूर्वक आक्रान्त कर दिया था। इस तरह के पराक्रम से भुजाएँ फूलें तो यह स्वाभाविक है, पर यहाँ उन्हें वह वृथा कहता है, कारण, वे पराक्रमशाली भुजाएँ भी आज किसी काम की नहीं रही थीं—व्यर्थ सिद्ध हुई थीं। 'भुजाएँ' बहुवचनसूचक है जिसकी ध्वनि है कि मेरी ऐसी पराक्रमशाली बीस-बीस भुजाएँ भी अब व्यर्थ और भाररूप सिद्ध हुईं। इस प्रकार इस श्लोक का प्रत्येक शब्द बल्कि अक्षर-अक्षर भाव-व्यंजना में उपकारक सिद्ध हुआ है। अभिनव गुप्त ने ठीक ही कहा है कि अगर इस श्लोक के तिल के समान छोटे-छोटे टुकड़े भी कर दिये जायें तो भी वे सभी व्यंजकता से शोभित हो उठेंगे। यही श्रेष्ठ काव्य का लक्षण है। वे बाद में, विरोधी और अविरोधी, अंग और अंगी रस की योजना को लेकर औचित्य की विस्तार से चर्चा करने के बाद अन्त में जा कर कहते हैं कि रसादिविषयक औचित्यपूर्वक वाच्यों और वाचकों की योजना करना ही महाकवि का मुख्य कर्म है।"[1]

---

१. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३-३२ ॥

समापन

इस प्रकार क्षेमेन्द्र की चर्चा में जो गर्भित है उसे ही आनन्दवर्द्धन की चर्चा में स्पष्टतः कहा गया है। औचित्य का विचार रस को ध्यान में रख कर ही करना चाहिए और विरोधी-अविरोधी तथा अंगांगी रसों की योजना में रस-भंग न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवित भूत कहा है जिसका अर्थ यही है कि औचित्य के निर्वाह न होने पर रस-निष्पत्ति नहीं होगी और रस तो काव्य की आत्मा है। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने औचित्य की चर्चा रस को केन्द्र में रख कर की है। रस-निष्पत्ति के लिए जिस तरह के विभाव, भाव, अनुभाव और संचारी उचित हों उसी प्रकार उनका निरूपण करना चाहिए। जिसमें औचित्य का निर्वाह होता हो उसी तरह की कथा पसन्द करनी चाहिए। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथा के लेने पर उसमें आने वाली रस के प्रतिकूल स्थितियों का त्याग करना चाहिए और रस का जिस रूप में उत्कर्ष हो उसी रूप में कल्पना से कथा का निरूपण करना चाहिए, कथा की सन्धियों और अंगों की योजना भी रसानुकूल ही करनी चाहिए—मात्र शास्त्र का पालन करने की दृष्टि से नहीं करनी चाहिए। अलंकारों का प्रयोग भी उतना और वैसा ही होना चाहिए जितना रस के लिए उपकारक हो। सुप, तिङ्, निपात, समास, लिंग, वचन, कारक, सम्बन्ध, आदि का प्रयोग भी रस को लक्ष्य में रख कर औचित्यपूर्ण ढग से करना चाहिए। संघटना की योजना भी मुख्यतः रसौचित्य को ही ध्यान में रख कर करनी चाहिए। यही उनकी चर्चा का समग्रतः सार है।

———

काव्य में अर्थ

मेरे लिए विषय पसन्द किया गया है : 'काव्य में अर्थ' अथवा 'काव्य और अर्थ'। मुझे काव्य पर नहीं बल्कि अर्थ पर विशेष रूप से बोलना है। इसलिए मैंने आज अपने देश के आचार्यों द्वारा काव्य के सम्बन्ध में अर्थ को लेकर जो विचरणा की गयी है उसका परिचय देने का विचार किया है।

काव्य शब्दार्थ से निर्मित है और काव्य का पर्यवसान रसास्वाद में होता है। पर शब्दार्थ का रसास्वाद में पर्यवसान होने के लिए काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थों में अमुक विशेषता होनी आवश्यक है। यह विशेषता अपने देश के आलंकारिकों के मतानुसार गुणालंकार है। इस प्रकार गुणालंकार से संस्कृत शब्दार्थ ही काव्य-पद प्राप्त कर सकते हैं।—यह बात वामन कहते हैं।[1] इस दृष्टि से देखने पर, काव्य के शब्दार्थ, रस और गुणालंकार, शास्त्रीय दृष्टि से पृथक् विचारणीय होने पर तत्त्वतः अविभाज्य तीन घटक हैं और काव्यशास्त्र इन तीनों घटकों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करता है। आज हमें मुख्यतः शब्दार्थ पर विचार करना है।

व्याकरण, न्याय, मीमांसा और काव्य

शब्दार्थ पर विचार करते समय व्याकरण, न्याय और मीमांसा ये तीनों शास्त्र आँखों के आगे आ खड़े होते हैं क्योंकि इन तीनों ने अपने-अपने ढंग से शब्दार्थ पर विचार किया है। काव्यशास्त्र ने इन तीनों से अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ ग्रहण की हैं। फिर भी इसका व्याकरण के साथ जितना सम्बन्ध है उतना न्याय अथवा मीमांसा के साथ नहीं है। काव्यशास्त्र ने बहुत-सी बातों में व्याकरण का आश्रय ले रखा है, अतः यह कहा जाता है कि अलंकारशास्त्र व्याकरण की पूँछ है। यहाँ पूँछ का अर्थ है परिशिष्ट—ॲपेन्डिक्स। व्याकरणशास्त्र शब्द की शुद्धि-अशुद्धि पर विचार करता है तो काव्यशास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र, व्याकरण द्वारा शुद्ध घोषित शब्दों में से कौन से अमुक सन्दर्भ में प्रयोग किये जाने योग्य हैं, उन पर विचार करता है। अतः दूसरे ढंग से कहें तो व्याकरण शब्द की शुद्धता-अशुद्धता पर विचार करता है और काव्यशास्त्र शब्द की योग्यता-अयोग्यता अथवा उसके औचित्य पर विचार करता है। उदाहरणार्थ रव, नाद, रणित, कूजित, स्तनित, गर्जित नामक सभी शब्द 'आवाज' का ही अर्थ देते हैं और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं। फिर भी काव्य में ये मनचाहे ढंग से प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। 'सिंहरव' नहीं कहा जा सकता, 'सिंहनाद' ही

---

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थयोः वर्तते।—वामन, १, ११।
राजशेखर भी यही बात कहते हैं : गुणवदलङ्कृतं च वाक्यमेव काव्यम्।

कहा जायगा। 'मण्डूकरव' ही कहा जायगा। कंकणादि का स्वर 'रणित' ही कहा जायगा, मेघ का स्तनित अथवा गर्जित ही कहा जायगा, पक्षियों का कूजित ही होगा।

दो दृष्टान्तों में यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। 'कुमारसम्भव' में बटुवेश में आगत शिव, पार्वती को शंकर से विवाह करने के उसके निश्चय से पतित करने के लिए जो तर्क देते हैं उसमें एक स्थान पर वे कहते हैं :

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

अर्थात् तू पिनाकिन से विवाह करने के लिए तैयार है अतः हमें अब दो वस्तुओं का शोक करना रहा : एक तो कलावान चन्द्र की वह कान्तिमती कला और दूसरी इस लोक की नेत्रकौमुदी तू।

यहाँ उमा की शिव के साथ जुड़ने की इच्छा में जो अनौचित्य निहित है उसे कवि गले उतारना चाहता है, अतः शिव के लिए प्रयुक्त शब्द 'पिनाकी' शिव के पराक्रम का व्यंजक शब्द होने के कारण यहाँ काव्य के लिए विशेष रूप से उपकारक नहीं है। अगर इसके बदले में छन्द में समुचित रूप से प्रयुक्त हो सकने वाला 'कपाली' शब्द उपयोग में लाया गया होता तो एक टीकाकार के अनुसार, अधिक अच्छा रहता। इस टीका में औचित्य का ही विचार प्रधान है जो सत्य भी प्रतीत होता है। इस लोक की नेत्रकौमुदी (आँखों को शीतल करने वाली) तू खोपड़ियों के हार पहनने वाले शिव से विवाह करने के लिए तैयार हो, यह तो गजब है!—अगर कवि ने यह पंक्ति इस तरह से लिखी होती कि 'समागमप्रार्थनया कपालिनः' तो यह भाव अधिक उठ पाता।

पाकिस्तान ने अपने देश पर आक्रमण किया तब राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने राष्ट्र के प्रति जो वायु-प्रवचन किया था उसके अन्तिम भाग में एक संस्कृत उक्ति उद्धृत की थी : वीरभोग्या वसुन्धरा। इसमें पृथ्वी के लिए अनेक शब्द होने पर भी कवि ने 'वसुन्धरा' शब्द का ही चयन किया है जो अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। धनधान्य से पूर्ण इस पृथ्वी को वीर ही भोग सकते हैं, कायर नहीं। इस व्यंग्यार्थ को 'वसुन्धरा' शब्द अच्छा उठाव दे जाता है। इस प्रकार चूँकि व्याकरण द्वारा शुद्ध घोषित शब्दों का—काव्य-निरूपित सन्दर्भ की दृष्टि से उचितानुचित का, उसके औचित्य का काव्यशास्त्र विचार करता है इसीलिए उसे व्याकरण शास्त्र की पूँछ भी कहा गया है।

पर, इसका अर्थ भी नहीं है कि काव्यशास्त्र सभी बातों में व्याकरणशास्त्र का अनुसरण करता है। जहाँ तक दोनों का मेल सम्भव हुआ वहाँ तक उसने व्याकरण के साथ मेल का निर्वाह किया, पर जहाँ दोनों में यह सम्भव न हुआ वहाँ उसने व्याकरण का साथ छोड़ दिया। अगर हम आज के विषय की बात करें तो काव्यशास्त्र ने स्वस्वीकृत अभिधावृत्ति के लिए व्याकरणशास्त्र का आधार लिया, पर चूँकि व्याकरण को लक्षणा मान्य नहीं है, अतः लक्षणा के लिए उसने मीमांसा

का आधार ग्रहण किया। पर, चूँकि व्याकरण और मीमांसा दोनों ही व्यंजना को नहीं मानते, अतः व्यंजना की सिद्धि के लिए उसने अपना स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। और इसका प्रभाव अन्ततः व्याकरण के ऊपर भी पड़ा और बाद में व्याकरण ने व्यंजना को भी मान्यता प्रदान की। नागेशभट्ट ने अपनी 'परमलघुमंजुषा' में शब्दशक्ति के विषय में कहा है कि 'शक्तिर्द्विधा—प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यत्वम् प्रसिद्धत्वम्; सहृदयमात्रवेद्यत्वम् अप्रसिद्धत्वम्।'

शक्ति दो प्रकार की हैं : प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध। मन्द बुद्धि वाला भी जिसे समझ सके वह प्रसिद्ध और जिसे केवल सहृदय ही समझ सकें वह अप्रसिद्ध शक्ति है। यह सहज ही समझ में आ जाता है कि अप्रसिद्ध शक्ति ही व्यंजना है। भर्तृहरि आदि ने भी निपातों की द्योतकता और स्फोट की व्यंजकता बतायी है। उसका उल्लेख कर अन्त में उसने स्पष्ट मत दिया है कि 'वैयाकरणानां अपि एतत्स्वीकारः आवश्यकः।' वैयाकरणों को भी इसे स्वीकार करना चाहिए।

पद-विचार

काव्यशास्त्र ने भी व्याकरणशास्त्र की भाँति ही पद और वाक्य पर विचार किया है। काव्य-दृष्टि से पदवाक्य पर विचार करते हुए राजशेखर कहते हैं कि 'व्याकरण-शास्त्र द्वारा शुद्ध घोषित शब्द अभिधान आदि में लिखित हैं। शब्द का जो अभिधेय होता है वह शब्द का अर्थ कहलाता है।' शब्द और अर्थ मिलकर पद बनता है।[१] पद की यह व्याख्या व्याकरणशास्त्र का अनुसरण नहीं करती, पर न्यायशास्त्र का अनुसरण करती है। व्याकरण में सुबन्त या तिङन्त (संज्ञा अथवा धातु के साथ लगने वाले प्रत्ययों से युक्त शब्द) को ही पद के रूप में स्वीकार किया गया है; पर न्याय मे 'शक्तं पदम्' अर्थात् अर्थ व्यक्त करने की शक्ति से सम्पन्न शब्द ही पद है। इस प्रकार काव्यशास्त्र द्वारा स्वीकृत व्याख्या न्यायशास्त्र के समान है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, इस बारे में व्याकरण और मीमांसा एकमत हैं। मीमांसा में इसकी विस्तृत चर्चा आती है कि शब्द और अर्थ के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। मीमांसा इस सम्बन्ध को नित्य और अपोरुषेय मानती है। इसका विरोध करते हुए पूर्वपक्ष कहता है कि 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही नहीं है फिर यह पौरुषेय और अपौरुषेय होने की बात ही क्यों? यह समझाता हूँ कि यह किस रूप में है। अगर आपका यह अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध संश्लेषात्मक है तो क्षुर के उच्चारण के साथ ही मेरा मुँह कट जाना चाहिए, और मोदक कहते ही मेरे मुख में लड्डू भर जाना चाहिए। पर, यह तो होता नहीं है। साथ ही कार्य-कारण, निमित्त-नैमित्तिक, आश्रय-आश्रयी आदि जो सम्बन्ध है वह शब्द और अर्थ के मामले में सम्भव नहीं है।' इसका उत्तर देता हुआ उत्तरपक्ष कहता

---

१. व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टः तदभिधेयोऽर्थः। तौ पदम्। काव्यमीमांसा, अध्याय ६।

है : 'वाह ! आप भी खूब हैं ! आपने इतने सारे सम्बन्धों का स्मरण किया पर एक सम्बन्ध जो शब्द और अर्थ के मामले में विशेष उल्लेख्य है उसका तो आप नाम ही नहीं लेते ! यह सम्बन्ध है प्रत्याय और प्रत्यायक का और इसका नाम है संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध ।'[१] अर्थात् शब्द संज्ञा है और अर्थ संज्ञी है। 'लड्डू' शब्द कहते ही मुँह भले ही लड्डू से न भरे पर लड्डू का मानसिक बोध तो होता ही है, यही इनका सम्बन्ध है ।

वाक्यविचार

पद के बाद वाक्य आता है। राजशेखर वाक्य की व्याख्या इस प्रकार देता है कि वक्ता के आशय को ग्रन्थित करने वाली पद-रचना ही वाक्य है—'पदानामभिधित्सितार्थ ग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम् ।—पृ० २२ ।

वाक्य के बारे में व्याकरणशास्त्रियों का नियम यह है कि जितने ही क्रियापद हैं उतने ही वाक्य माने जायेंगे। काव्यशास्त्र में यह नियम लागू नहीं होता। वहाँ क्रियापद तो चाहे कितने ही हों पर अर्थ अथवा आशय अगर एक है तो वह एक ही वाक्य माना जायगा। राजशेखर की धारणा के समान ही भोज ने भी काव्य-दृष्टि से इसी प्रकार की व्याख्या दी है : 'एकार्थपरः पदसमूहः वाक्यम् ।'

इसका अर्थ यह हुआ कि कवि एक ही साथ जितनी कल्पना अथवा जितना अर्थ प्रकट करना चाहता है उसे प्रकट करने वाला पद-सन्दर्भ अथवा पद-रचना ही वाक्य है। काव्य में वाक्यार्थ है एक सम्पूर्ण विचार अथवा कल्पना। एक पूर्ण विचार अथवा कल्पना को व्यक्त करने वाला वाक्य—भले ही उसमें एक या अनेक क्रियापद हों। काव्य में वाक्य का अभिधेय कोई प्रत्यय—आइडिया होता है। इस तरह के वाक्यों को ही काव्य में वचन अथवा उक्ति कहते हैं। जिस वचन या उक्ति अथवा वाक्य में विशेषता हो वही काव्य है : 'उक्तिविशेषः काव्यम्' ।

इस तरह के वाक्य में कितनी ही विशेषताएँ आवश्यक हैं : जिन पदों से यह वाक्य निर्मित है उन पदों में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति नामक धर्म होने चाहिए। योग्यता का अर्थ है पद-संगति। यथा—अगर कोई यह कहता है कि 'अग्नि से सींचता है' तो इसमें 'अग्नि' का अर्थ और 'सींचता है' का अर्थ परस्पर संगत नहीं है—इन दोनों का मेल नहीं है अतः इन पदों में योग्यता नही है फलतः यह वाक्य ही नहीं बना पाता। इसके स्थान पर अगर यह कहा गया होता कि 'पानी से सींचता है' तो

१. नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः कुतोऽस्य पौरुषेयता अपौरुषेयता वा इति। कथम्। स्यात् चेत्…… अर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणेमुख्यस्य पाटनपूरणे स्याताम् यदि संश्लेषलक्षणसम्बन्धमभिप्रेत्य उच्यते। कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिकाश्रयाश्रयिभावसंयोगादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति। उच्यते, यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धः तमेकं न व्यपदिशति भवान्। प्रताययस्य प्रत्यायकस्य च संज्ञासंज्ञिलक्षण इति।—मीमांसादर्शन, शबरभाष्य, अध्याय १, पाद १, सूत्र ५। डॉ० झा के अंग्रेजी ग्रंथ के अनुसार मूल पाठ और अनुवाद दिये गये हैं।

इन पदों के बीच में संगति होती और ये पद वाक्य बन जाते। आकांक्षा का अर्थ है श्रोता की जिज्ञासा—जानने की इच्छा। जिस शब्द के अभाव में श्रोता की जिज्ञासा सन्तुष्ट न हो उस शब्द को आकांक्षावाला शब्द कहा जायगा। इस बारे में मीमांसकों की व्याख्या इस प्रकार है : 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम् साकांक्षं चेत् विभागे स्यात्।'—जैमिनी, अध्याय २, पाद १, सूत्र ४६। विभाग करने से साकांक्ष बन जाने वाले एक अर्थ का प्रतिपादक वाक्य है। अर्थात् जितने पदों से एक अर्थ की प्रतीति हो उतने ही पदों का एक वाक्य बनता है—पदों की संख्या चाहे कितनी ही हो। पर, यह किस प्रकार निश्चित किया जाय कि वाक्य में अमुक पद आवश्यक है या नहीं ? पदों से किसी पद को अलग कीजिए, उसके विभाग कीजिए और अगर वाक्य का अर्थ अधूरा रह जाता है तो मान लीजिए कि वह पद आवश्यक है। इस तरह के आकांक्षा-युक्त पद ही वाक्य के अंग बन सकते हैं। आकांक्षारहित पद वाक्य की दृष्टि से अनावश्यक है। इस प्रकार, वाक्य के पद योग्य और साकांक्ष होने के अलावा अविलम्ब बोले गये होने चाहिए, अर्थात् उनमें आसत्ति होनी चाहिए। इसके अभाव में वाक्यार्थ के बोध में एकता नहीं रहेगी और उसके खण्ड हो जाएँगे।

इसमें आसत्ति साक्षात् पद का धर्म है, योग्यता पदार्थ का धर्म है और आकांक्षा श्रोता का आत्म-धर्म है। इस पर भी ये तीनों उपचार से पद-धर्म मान लिये गये है।

महावाक्य

अब तक हमने जिस वाक्य की चर्चा की वह पद-समूह से निर्मित हुआ होता है, पर इसके अलावा भी वाक्य का एक प्रकार होता है। इसे महावाक्य कहते हैं। आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के मिलने से जिस प्रकार वाक्य बनता है उसी प्रकार इन तीनों के आधार पर एकत्र अनेक वाक्य महावाक्य का निर्माण करते हैं। वाक्य में जिस प्रकार अनेक पद होने पर भी अर्थ की एकता बनी रहती है उसी प्रकार महावाक्य में भी अनेक वाक्य होने पर भी अर्थ की एकता रहती है, इसीलिए ऐसे वाक्यों के समुच्चय को महावाक्य कहा गया है। जगन्नाथ महावाक्य के उदाहरण-रूप रघुवंश, रामायण आदि का उल्लेख करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण काव्य एक महावाक्य होगा। इनसे जो कुछ बातें फलित होती हैं वे काव्यार्थ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं अतः हम उनकी जरा विस्तार से चर्चा करेंगे।

राजशेखर कहता है कि वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का ग्रन्थन करने वाले पदों का सन्दर्भ ही वाक्य है। तदनुसार कवि-मन में अर्थ का ग्रन्थन करने वाले वाक्यों का सन्दर्भ अथवा समूह महावाक्य है अथवा काव्य है। सम्पूर्ण काव्य के द्वारा कवि किसी एक ही अर्थ का कथन करना चाहता है। उस एक ही अर्थ की दृष्टि से जब हम काव्य के अलग-अलग घटकों पर विचार करते हैं तब घटकों की आकांक्षा (घटक कितने अंशों में अपरिहार्य और उचित हैं) पर भी विचार करते हैं। पदों की आकांक्षा और योग्यता के कारण हमें वाक्य का अर्थ-बोध होता है, तदनुसार ही वाक्यों की

आकांक्षा और योग्यता के कारण हमें महावाक्य के अर्थ का बोध होता है। वाक्य में प्रयुक्त पद स्वतन्त्ररूप से अलग-अलग अर्थ व्यक्त करते हैं, पर जब वाक्य में उनका समुच्चय बन जाता है उस समय उन सब पदों के अर्थ से भिन्न एक विशिष्ट वाक्यार्थ हमारी समझ में आता है; उसी प्रकार अलग-अलग वाक्यों के समुच्चय से स्वतन्त्र वाक्यार्थों से भिन्न एक महावाक्य का अर्थ हमारी समझ में आता है। वे लोग काव्य समझ नहीं सकते जो महावाक्य के अंगभूत वाक्यों के स्वतन्त्र अर्थ तो कर लेते हैं पर उनके पार जाकर समग्र महावाक्य का अर्थ ग्रहण नहीं कर सकते। काव्यशास्त्र ने महावाक्य की यह कल्पना अपने घर से नहीं जोड़ दी है; वह तो मीमांसाशास्त्र से ग्रहण की है : कुमारिलभट्ट ने कहा है कि—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥

अपने अर्थ का बोध कराने की बात पूरी होने पर अंगांगिभाव की अपेक्षा से एकत्र वाक्यों की एकवाक्यता प्रकट होती है।

महावाक्य के वाक्यों की योग्यता का अर्थ है काव्य के घटकों की सुसंगतता और सम्भवनीयता और आकांक्षा का अर्थ है उन घटकों की अपरिहार्यता। यदि काव्य-घटकों में सुसंगतता का अनुभव न हो अथवा उसकी सम्भवनीयता के विषय में शंका जाग्रत हो तो काव्य में असंगतिदोष और असम्भवदोष आते हैं, अगर यह प्रतीत हो कि कोई घटक अपरिहार्य नहीं है तो काव्य के एकत्व को क्षति पहुँचती है—वह काव्य नहीं बन पाता। कलाकृतियों में एकत्व की अपेक्षा रहती है, उनमें जो कुछ आता है वह सम्पूर्ण के साथ औचित्यपूर्वक अंगांगिभाव से एक-रूप होकर आता है, प्रयोजन के बिना कलाकृति में कुछ भी बढ़ाना सम्भव नहीं होता, इसी प्रकार अर्थाभिव्यक्ति के लिए जो कुछ आवश्यक है वह कम भी नहीं किया जा सकता। इन सभी को हमारे आचार्यों ने महावाक्य की कल्पना द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंग से सूचित कर दिया है।

वाक्यार्थ-बोध

हम पहले देख आये हैं कि काव्यशास्त्र ने नैयायिकों की पद-सम्बन्धी व्याख्या स्वीकार कर ली है : शक्तं पदम्। इसका अर्थ है अर्थ-बोध कराने की शक्ति से सम्पन्न शब्द पद है। इस शक्ति को शक्ति, वृत्ति अथवा व्यापार जैसे अलग-अलग नामों से पहचाना जाता है और काव्यशास्त्र ने इस प्रकार की तीन शक्तियाँ स्वीकार की हैं : अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे; इन तीन के अलावा भी तात्पर्य नामक एक चौथी वृत्ति भी कितने ही मीमांसक और काव्यशास्त्री मानते हैं। अभिधा आदि तीन शक्तियाँ शब्दार्थ का बोध कराती हैं; तात्पर्यवृत्ति वाक्यार्थ का बोध कराती है। शब्दों के अपने अर्थ होते हैं, पर शब्द एकत्र होकर जब वाक्य बन जाते हैं तब वे उन शब्दार्थों से भिन्न उनमें से एक स्वतन्त्र अर्थ प्रकट होता है जो वाक्यार्थ

कहलाता है। यह वाक्यार्थ शब्द की अभिधा आदि शक्तियों से समझ में नहीं आता, इसके लिए तो एक स्वतन्त्र शक्ति माननी चाहिए। इन लोगों का यह मत है कि वह शक्ति तात्पर्य-शक्ति है। हम देख चुके हैं कि वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसमें पदों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि गुण आवश्यक हैं। ये तीनों मिल कर ही तात्पर्यवृत्ति का निर्माण करते हैं। इन धर्मों के कारण पदार्थों का समन्वय हुआ अतः पदार्थों से भिन्न वाक्यार्थ प्रकट होता है। अभिधा आदि वृत्तियों ने जिसका बोध कराया है उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध दिखा कर उसके द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना तात्पर्यवृत्ति का काम है।

इस मत को ठीक तरह से समझने के लिए एक उदाहरण लें: 'घटं करोति।' इसमें 'घटम्' और 'करोति' दो पद हैं। 'करोति' क्रियावाचक पद है। 'घटम्' के भी 'घट' और 'अम्' दो भाग हैं। 'घट' मूल शब्द या प्रकृति है और 'अम्' कर्मवाचक प्रत्यय है। इसलिए इस सम्पूर्ण पद का अर्थ 'घट' के आश्रित कर्मत्व हुआ। और 'करोति' करने की क्रिया का वाचक है। इन दो पदार्थों के बीच के सम्बन्ध को बताने वाला कोई भी शब्द इस वाक्य में नहीं है। प्रश्न है कि फिर यह सम्बन्ध कौन बताता है? अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि यह सम्बन्ध तात्पर्यवृत्ति बताती है। आकांक्षा, याग्यता और सन्निधि के कारण इन पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध समझ में आता है और इस प्रकार पदार्थों के अन्वय होने पर हम सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ समझने में समर्थ होते हैं।

पर प्राभाकर मीमांसक इससे भिन्न ही मत रखते हैं। वे यह मानते हैं कि हमें शब्द का जो अर्थ समझ में आता है वह स्वतन्त्र रूप से समझ में नहीं आता; अन्वित अवस्था में समझ में आता है। अतः अन्वयबोध के लिए तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता ही नहीं है।

मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में इन दोनों मतों का समन्वय किया है और कहा है कि पद की दृष्टि से अभिहितान्वयवाद उचित है और वाक्य की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद उचित है।

शब्द की तीन वृत्तियाँ

अब हम काव्यशास्त्र द्वारा स्वीकृत शब्द की तीन वृत्तियों पर आते हैं। हम देख आये हैं कि काव्यशास्त्र ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीन वृत्तियाँ स्वीकारी हैं और जिस-जिस प्रसंग में जिस वृत्ति से अर्थ निकलता है तदनुसार शब्द वाचक, लाक्षणिक या व्यंजक कहलाता है। बात यह नहीं है कि अमुक शब्द वाचक हैं, अमुक लाक्षणिक हैं और अमुक व्यंजक हैं। एक ही शब्द वृत्ति-भेद से वाचक, लाक्षणिक अथवा व्यंजक हो सकता है। हम एक उदाहरण लें। 'राम वन में गये'— यहाँ राम का अर्थ 'दशरथ का पुत्र है और यह उसका मुख्य अर्थ है जो अभिधा-वृत्ति से समझ में आता है। इसीलिए इस वाक्य में राम शब्द वाचक है। पर गुजराती

'इन्द्रजितवध' महाकाव्य में 'नहीं राम बिशे अलि राम जरी' (अर्थात् हे सखि, राम में कुछ राम नहीं है।) जैसा एक वाक्य आता है। 'राम में कुछ राम नहीं।' इसमें प्रथम राम वाचक है और दूसरा राम लाक्षणिक है। वहाँ वाच्यार्थ नहीं लिया जा सकता। अतः 'दम', 'शक्ति', 'शहूर' जैसा अर्थ-घटन करना पड़ेगा। यह लक्ष्यार्थ है और लक्षणा-वृत्ति से समझ में आता है अतः इस स्थान पर 'राम' शब्द लाक्षणिक है। लेकिन 'उत्तररामचरित' में जब शूद्रक का वध करने का प्रसंग आता है तब राम अपने दाहिने हाथ को सम्बोधित कर कहते हैं :

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥

अर्थात् हे मेरे दक्षिण हस्त, ब्राह्मण के मृत शिशु को जिलाने के लिए तू शूद्रमुनि के सिर पर तलवार का प्रहार कर; कठोरगर्भा सीता को बनवास देने में दक्ष राम का तू बाहु है, तुझमें दया कैसे हो सकती है ?

यहाँ पहले 'राम' शब्द से 'क्रूर कर्म करने में कच्चाई न रखने वाले' का लक्ष्यार्थ समझ में आता है। पर, इतने से ही काम पूरा नहीं हो जाता। 'राम' शब्द व्यंजक बन जाता है और राम द्वारा सीता के प्रति किये गये अन्याय का बोध, उससे जाग्रत आत्मतिरस्कार और हृदय में गहरा बसा हुआ दुःख—ये सभी इस 'राम' शब्द से व्यंजित होते हैं।

अभिधावृत्ति

मम्मट ने वाचक शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी है : 'साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थम् अभिधत्ते स वाचकः।' जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराते हैं वे वाचक कहलाते हैं। संकेत से क्या अभिप्राय है ? नैयायिकों के मतानुसार इस शब्द का यह अर्थ लेना चाहिए कि जो ईश्वर की इच्छा है वही संकेत है। पर नव्यनैयायिकों के अनुसार विशेष नाम और पारिभाषिक शब्दों का संकेत ईश्वर की इच्छा से नहीं पर मानव की इच्छा से उत्पन्न होता है अतः 'इच्छामात्रं सङ्केतः।' वे कहते हैं कि केवल इच्छा संकेत हैं। पर स्फोटवादी वैयाकरण इसका भी विरोध करते हैं : अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझ में आये इस प्रकार की मनुष्य की चाहे कितनी ही इच्छा क्यों न हो तो भी यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वह तदनुसार समझ में आयेगा ही। इन लोगों के मतानुसार शब्द, अर्थ और प्रत्यय—इन तीनों का एक-दूसरे पर अध्यास होने से इन तीनों का संकर होता है और ये तीनों एकरूप भासित होते हैं। शब्दार्थ का इतरेतराध्यास ही संकेत है। 'सङ्केतस्तु पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः योऽयं शब्दः सोऽर्थः, योऽर्थः स शब्दः इति।'—पातंजल महाभाष्य। अर्थात् पद का अर्थ पर और अर्थ का पद पर अध्यास अर्थात् गलत आरोप करना और दोनों को एकरूप मान लेना संकेत है। पर इतना वर्णन पर्याप्त नहीं है। कारण, संकेत की

खबर होने पर भी जब शब्द सुनते हैं तब उसका स्मरण न रहने पर अर्थ समझ में नहीं आता। इसीलिए संकेत को स्मृत्यात्मक कहा गया है।

संकेत किस में होता है? इसे लेकर अलग-अलग मत हैं। वैयाकरण यह मानते हैं कि संकेत जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा में होता है। नव्यनैयायिक मानते हैं कि संकेत जातिविशिष्ट व्यक्ति में है। मीमांसकों का मानना है कि संकेत केवल जाति में ही और बौद्ध यह मानते हैं कि अन्य से व्यावृत्ति, अपोह, अलगपने में संकेत है: यथा—'गाय' अर्थात् गाय के अलावा अन्य सभी से पृथक् वह गाय। इन सभी में से काव्यशास्त्र ने वैयाकरणों के जात्यादिवाद—अर्थात् संकेत जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा में है—को स्वीकार किया है।

स्फोटवाद

हमारे आचार्यों ने इस विषय पर भी विचार किया है कि शब्द से अर्थ किस प्रकार प्रतीत होता है। शब्द अनेक वर्णों से निर्मित होता है, तो हमें जो अर्थ समझ में आता है वह एक-एक वर्ण से अथवा सभी वर्णों के समूह से आता है? अगर कोई कहता है कि 'एक-एक वर्ण से' तो उसका विरोध इस प्रकार किया जाता है कि अगर पहले वर्ण से ही शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है तो शेष वर्ण निरुपयोगी और अतिरिक्त सिद्ध होंगे अतः उन्हें बोलने की क्या आवश्यकता है? और अगर कोई यह कहता है कि 'वर्णसमुच्चय' से अर्थ समझ में आता है तो उसका विरोध इस तरह किया जाता है कि वर्ण तो अनित्य हैं, क्षणिक हैं। बोलते ही नाश हो जाते हैं तो फिर वे एकत्र किस तरह हो सकते हैं? जब किसी तीन वर्णों वाले शब्द का पहला वर्ण बोला जाता है तो उस समय दूसरे और तीसरे वर्ण उपस्थित नहीं होते; जब दूसरा वर्ण बोला जाता है तब पहले और तीसरे उपस्थित नहीं होते; इसी प्रकार जब तीसरा वर्ण बोला जाता है उस समय पहले और दूसरे वर्ण उपस्थित नहीं होते, तो फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे सभी एकत्र होकर अर्थ को समझाते हैं। इसका स्पष्टीकरण स्फोटवाद से किया गया है। कल्पना कुछ ऐसी है कि प्रत्येक शब्द का एक स्फोट होता है। स्फोट क्या है? स्फोट वर्ण से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ की प्रतीति कराने वाला, वर्ण से अलग नित्य शब्द है। वह अखण्ड और निरवयव है। जैसे-जैसे वर्ण बोले जाते हैं वैसे-वैसे यह स्फोट थोड़ा-थोड़ा स्पष्ट होता जाता है और अन्तिम वर्ण के बोले जाने पर पहले वर्णों के संस्कार के साथ मिल कर वह स्फोट को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है और उसी क्षण शब्द का अर्थ स्फोट से बिजली की चमक की भाँति प्रतीत हो जाता है।[1]

अभिधा से स्पष्ट अर्थ शब्द का मुख्य अर्थ है अतः कोशों में यही अर्थ पहले दिया

१. वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोटः।...तथाहि अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनि स्फोटमस्फुटमभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतमम्,...।—सर्वदर्शनसंग्रह। वर्णातिरिक्तः पूर्वपूर्ववर्णानुभवसहितचरमवर्णानुभवव्यङ्ग्यः अर्थप्रत्यायकः।—वाचस्पत्यम्।

जाता है। सामान्यरूप में हमारा व्यवहार मुख्यार्थ से चलता है—विशेषतः कायदे तो शब्द के मुख्यार्थ को ध्यान में रख कर ही गढ़े जाते हैं। इसीलिए झगड़ा होने पर कोर्ट में प्रमाणभूत कोशों का आधार उद्धृत किया जाता है। पर, लक्ष्यार्थ में ऐसा नहीं होता। इसलिए कुमारिलभट्ट का कथन है कि अपरिहार्य स्थिति में ही शास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षणावृत्ति का उपयोग करना चाहिए : 'अगत्या लक्षणावृत्तिः।'

लक्षणावृत्ति

लक्षणा कब व्यापार में आती है ? जब मुख्यार्थ बाध हो अर्थात् जब वाच्यार्थ के अनुसार संगत अर्थ करने में कठिनाई उपस्थित होती हो उस समय लक्षणा व्यापार में होती है। यह कठिनाई दो प्रकार की होती है : एक तो अनुपपत्ति की अर्थात् पदों के औचित्यपूर्ण अन्वय की, यथा—'गंगा में घर।' यहाँ यह कठिनाई है कि नदी के प्रवाह में घर नहीं बाँधा जा सकता। अतः इसे दूर करने के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर 'गंगा' का अर्थ 'गंगातट' करते हैं। दूसरी कठिनाई तात्पर्य-सम्बन्धी है। माना कि किसी आदमी ने दूसरे आदमी का अनेक रूप में बुरा किया है और यह दूसरा आदमी पहले आदमी को सम्बोधित कर कहता है कि आपने मुझ पर इतने अधिक उपकार किये हैं कि क्या कहा जाय। आपकी सुजनता का चारों ओर बखान है। इसी प्रकार करते हुए आप सुख से सौ वर्ष जियें।

इसमें अगर वक्ता का हेतु ध्यान में न लें तो अर्थ करने में कोई कठिनाई नहीं होती, पर वक्ता का हेतु ध्यान में लेने पर तो इन वाक्यों का जो वाच्यार्थ है उससे वक्ता के हेतु का कोई मेल ही नहीं बैठता। इस तरह जब बोलने वाले के हेतु और वाच्यार्थ के बीच मेल नहीं बैठता तब कठिनाई उपस्थित होती है जिसे तात्पर्य-बाध कहा गया है। फिर विपरीत लक्षणा से उल्टा ही अर्थ करना पड़ता है : उपकार—अपकार, सुजनता—दुर्जनता, आदि।

इस प्रकार से लक्षणा की दूसरी शर्त यह है कि लक्षणा से जो दूसरा अर्थ किया जाता है उसका वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही है। उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में 'गंगा' और 'गंगातट' के बीच निकटता का सम्बन्ध है और दूसरे उदाहरण में 'उपकार' और 'अपकार' के बीच विपरीतता का सम्बन्ध है। इस तरह के पाँच सम्बन्धों की चर्चा की गयी है :

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥

अर्थात् मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रिया का सम्बन्ध होने से पाँच प्रकार की लक्षणा होती है।

लक्षणा-सम्बन्धी तीसरी वस्तु यह है कि लक्षणा किसी रूढ़ि से संयुक्त होनी चाहिए अथवा बोलने वाले का कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिए। रूढ़ि से होने वाली लक्षणा तो अभिधारूप ही बन जाती है। अतः कुछ तो इसे लक्षणा ही नहीं मानते

और काव्य में तो प्रयोजनवती लक्षणा का ही विचार किया जाता है। उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में यह बताना प्रयोजन है कि घर को गंगा के शैत्य और पावनत्व का पूरा लाभ मिलता है। तो दूसरे उदाहरण में अपकार और दुर्जनता के आधिक्य को संकेतित करना प्रयोजन कहा जा सकता है।

वस्तुतः लक्षणा मुख्यार्थ की वृत्ति है। पर चूँकि उसका शब्द पर आरोप किया जाता है इसलिए यह आरोपित क्रिया कहलाती है। शब्द और लक्षणा के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। बीच में वाच्यार्थ आता है इसीलिए इसे सान्तरार्थनिष्ठ कहा गया है। नागेश ने इसका अर्थ इस रूप में किया है कि लक्षणा व्यापार 'साक्षादर्थ-निष्ठः परम्परया शब्दनिष्ठः।' साक्षात् अर्थनिष्ठ और परम्परा से शब्दनिष्ठ है। साथ ही, अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है, पर लक्षणा ऐसी नहीं है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि काव्य में प्रयुक्त लक्षणा प्रयोजनवती होती है। यह प्रयोजन व्यंजना से समझ में आता है और यह व्यंजना लाक्षणिक शब्द में निहित रहती है। यही सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रयोजन व्यंग्य है। इस बारे में काव्यशास्त्रियों का एकमत द्रष्टव्य है : यह व्यंग्य न तो इतना गूढ़ होना चाहिए कि समझ में ही न आये और इतना अधिक अगूढ़ भी नहीं होना चाहिए कि उसमें कोई चमत्कार ही न रहे।

व्यंजनावृत्ति

लक्षणा के प्रकारों में न उतर कर अब हम तीसरी वृत्ति व्यंजना की चर्चा करते हैं। अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक वृत्तियाँ अपना-अपना काम कर रुक जाती हैं और इनके बाद जिसके कारण अतिरिक्त अर्थ-बोध होता है उसे विश्वनाथ ने व्यंजना के रूप में प्रस्तुत किया है।[१] जिस प्रकार अभिधा एक शब्द-शक्ति है, लक्षणा भी शब्द-शक्ति मानी गयी है उसी प्रकार व्यंजना शब्द और अर्थ की शक्ति मानी गयी है। अर्थात् जिस प्रकार शब्द व्यंजक होता है उसी प्रकार अर्थ भी व्यंजक होता है और अभिनयादि भी कभी-कभी व्यंजक बन जाते हैं। व्यंजना का आधार कभी लक्षणा पर और कभी अभिधा पर रहता है। शब्द केवल व्यंजक नहीं होता। वह या तो वाचक और व्यंजक होता है अथवा लाक्षणिक और व्यंजक होता है, पर कभी भी शब्द वाचक और लाक्षणिक नहीं हो सकता।

लौकिक और अलौकिक व्यंग्य

व्यंजना से समझ में आने वाला व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है : लौकिक और अलौकिक। लौकिक वह अर्थ है जिसे वाच्य में रखा जा सकता है और अलौकिक वह अर्थ है जिसे वाच्य में रखा ही नहीं जा सकता। इसे उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर लिया जाय :

---

१. विरतास्वभिधाद्यासु यथाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

गुञ्जन्ति मञ्जु परितः गत्वा धावन्ति सम्मुखम् ।
आवर्तन्ते निवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रता ।।

वाच्यार्थ है : भ्रमर मधुर गुंजारव करते-करते सरोवर की ओर दौड़ते जाते हैं और वापिस आते हैं। पर, इसका व्यंग्यार्थ है कि कमल खिलने का समय निकट आ गया है, अर्थात् शरद् ऋतु का आगमन हो गया है। यह व्यंग्यार्थ इस प्रकार है कि यदि कवि ने चाहा होता तो वह इसे स्पष्ट शब्दों में भी कह सकता था। यहाँ अमुक हक़ीकत का संकेत है और इसे वाच्य में रखा जा सकता है, अतः यह व्यंग्य लौकिक है। इसमें किसी हक़ीक़त या वस्तु का संकेत है इसलिए इसे वस्तुध्वनि भी कहा जाता है।

अब हम दूसरा उदाहरण लेंगे :

दयिते वदनत्विषां मिषात् अयि तेऽमी विलसन्ति केसराः ।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ।।

प्रिये, तेरे वदन की प्रभारूप में केसर ही विलसित है और काले केशों का वेश धारण कर ये भ्रमर ही मरकन्द के लोभ से लुब्ध हो कर आये हैं।

इस दृष्टान्त के वाच्यार्थ में दो अपह्नुति अलंकार हैं; उनका व्यंग्यार्थ है कि तू स्त्री नहीं पर कमलिनी है। पर, यह भी एक अपह्नुति अलंकार है। इस प्रकार इस उदाहरण में एक अलंकार संकेतित है। वह भी ऐसा है कि अगर चाहें तो उसे वाच्य में रख सकते हैं। अर्थात् यह भी लौकिक व्यंग्य है और इसमें अलंकार संकेतित होने के कारण इसे अलंकार-ध्वनि भी कहा जाता है।

अब हम तीसरा उदाहरण लेंगे :

गुरुमध्यागता मया नताङ्गी निहिता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रू लतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ।।

बात यह है कि दोपहर में घर के काम से मुक्त हो नायिका सास, ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी है। उस समय इस नायक ने धीरे से कमल-कली से उसे मारा। इसलिए उस नायिका ने भौंहों को चढ़ा कर उसकी ओर इस तरह देखा कि उसके कान के कुण्डल हिल उठें और मुँह मोड़ लिया। यहाँ नायिका ने जिस रूप में मुँह फेर लिया है उसका वर्णन हमें कितना अधिक कह जाता है : 'तुम तो कैसे हो। समय-कुसमय कुछ भी देखना ही नहीं।'' 'नायिका का यह कोप, इस कोप से अधिक खिला हुआ उसका सौन्दर्य जिसे देख कर नायक को मिला एक तरह का तूफानी आनन्द और इन दो भावों के संयोग से संकेतित हुआ दोनों का मधुर दाम्पत्यप्रेम— यहाँ यह रसिक के आस्वाद का विषय है। इसे वाच्य में नहीं रखा जा सकता। इसे तो मात्र हृदय से आस्वादित किया जा सकता है। अतः इस प्रकार के व्यंग्यार्थ को अलौकिक कहा गया है। इसमें जो संकेत है वह किसी भाव या रस का है अतः इसे रसध्वनि भी कहा जाता है।

रसादिध्वनि ही मुख्य है

इस प्रकार हमने देखा कि ध्वनि के तीन प्रकार हैं : वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इनमें से प्रथम दो वाच्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं और उन्हें लौकिक कहा जा सकता है। तीसरे को कभी भी वाच्य में नहीं लिया जा सकता और वह अलौकिक ही कहा जायगा। पर, इन तीनों प्रकार के ध्वनियों में रसादिध्वनि ही मुख्य माना गया है और उसे काव्य की आत्मा कहा गया है। काव्य में अन्य सभी वस्तुएँ रस के लिए ही आती हैं। रस से निरपेक्ष होकर काव्य में किसी भी वस्तु के लिए स्थान नहीं है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का तो अन्ततः पर्यवसान रस में ही होता है। यही बात अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कही है :

'रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।' ध्वन्यालोक में भी कहा गया है कि—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥४–५॥

विविध प्रकार के व्यंग्यव्यंजक भाव तो सम्भव हैं, पर फिर भी कवि को तो हमेशा रसादिरूप व्यंग्यव्यंजक भाव पर ही ध्यान रखना चाहिए।

इन सबका यह अर्थ हुआ कि काव्य का अर्थ समझने का मतलब है व्यंग्यार्थ को समझना अथवा यों कहें कि रसानुभव करना। लक्षणा और उपमादि अलंकार भी काव्य में रसाभिव्यक्ति के लिए ही आते हैं। इसलिए जब तक हम लक्षणा में निहित प्रयोजन को न जान लें तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हम काव्य समझ गये हैं। हम एक स्थूल उदाहरण लें। गुजराती कवि कलापी के एक काव्य में यह पंक्ति आती है :

'पासे जेवी चरती हती आ गाय तेवो ज हुं छुं।' (पास में जैसे चर रही थी यह गाय वैसा ही मैं हूँ।)

यहाँ वक्ता गाय के साथ अपनी तुलना करता है। तो यह तुलना किसलिए की गयी है? क्या वह यह कहना चाहता है कि मैं (पशु) ढोर जैसा हूँ? आप सभी अपना सिर हिलाते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि आपको यह अर्थ मान्य नहीं है। अतः यहाँ गाय का पशुत्व विवक्षित नहीं है। हम 'ग़रीब गाय जैसे' कहते हैं। यहाँ 'ग़रीबपना' का अर्थ 'निरुपद्रविता' ही उद्दिष्ट है। 'जिस प्रकार गाय निरुपद्रवी है उसी प्रकार मैं निरुपद्रवी हूँ'—यहाँ कवि कहना चाहता है। मैं गाय के समान निरुपद्रवी हूँ अतः आपको मुझसे डरने, दूर भागने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ आप निस्संकोच व निर्भयतापूर्वक रहें, घूमें, चरें और किल्लोल करें। यह बात जब तक हमारी समझ में नहीं आती तब तक कविता समझी गयी नहीं कही जायगी।

व्यंग्यार्थबोध के लिए प्रतिभा आवश्यक

काव्य में वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ समझ कर सन्तोष मानना अलम् नहीं है। वहाँ

तो इन दोनों के पार स्थित व्यंग्यार्थ को प्राप्त करना है, क्योंकि काव्य का वही मुख्य अर्थ है। मम्मट ने दोष की व्याख्या देते हुए कहा है कि 'मुख्यार्थ हतिर्दोषः।' मुख्यार्थ को हानि पहुँचाने वाला दोष होता है। रसश्च मुख्यः। और काव्य में रस मुख्य है। अतः रस को हानि पहुँच ने वाला दोष हुआ। इस प्रकार रस, रसादि व्यंग्य ही काव्यार्थ है, और शेष दूसरे अर्थ तो उसे प्राप्त करने के सोपान हैं। व्यंग्यार्थ के कभी भी शब्दवाच्य न होने के कारण उसे समझने के लिए प्रतिभा की आवश्यकता है। आचार्यों का यही मत है। ऐरा गैरा नत्थू खैरा इसे नहीं समझ सकता। अभिनवगुप्त ने यह कहा है कि भावक की प्रतिभा का सहयोग और द्योतन व्यंजना के प्राणरूप हैं। 'प्रतिपत्तृप्रतिमासहकारित्वम् अस्माभिः द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्।' इसी प्रकार मम्मट ने भी व्यंग्यार्थ को समझने के लिए प्रतिभा की विशदता आवश्यक मानी है। इस अंश को हम जरा विस्तार से देखेंगे। वह 'शब्दव्यापारविचार' नामक अपने ग्रन्थ में कहता है :

प्रज्ञावैमल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥

'यथा सङ्केतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेन अभिधायको लक्षकश्च, यथा वा पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकिसहगतः विवक्षाया अनुमापकः, तथा प्रतिभाविदग्धपरिचय-प्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यङ्ग्यमर्थं ध्वनिशब्दो व्यनक्ति।'

'संकेत की सहायता से शब्द वाचक बनता है अर्थात् वाच्यार्थ प्रकट करता है, मुख्यार्थ बाधादि तीन निमित्तों से वह लक्षक बनता है अर्थात् लक्ष्यार्थ प्रकट करता है; पक्ष-धर्म—अन्वयव्यतिरेक—आदि की सहायता से अनुमापक बनता है। अर्थात् विवक्षित अर्थ का अनुमान करने में कारणभूत बनता है; उसी के अनुसार प्रतिभा की विमलता, विदग्धता के परिचय और प्रकरणादि के ज्ञान की सहायता से वह वाचक-लक्षक शब्द व्यंजक अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाला बन जाता है। इसे ही ध्वनि कहते हैं।"[१]

इसका अर्थ यह हुआ कि व्यंग्यार्थ का बोध होने के लिए विमल प्रतिभा, प्रवैदग्ध्य और प्रकरणादि का ज्ञान आवश्यक है—इसके अभाव में व्यंग्यार्थ का बोध सम्भव नहीं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में भी इसी वस्तु को जरा दूसरे ढंग से रखा है :

---

१. नागेश भट्ट द्वारा 'परमलघुमंजुषा' में दी गई व्यंजना की व्याख्या भी देखने लायक है : मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको, मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणः, प्रसिद्धाप्रसिद्धविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना।

अर्थात् मुख्यार्थ बाध की अपेक्षा किये बिना बोध कराने वाला, मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध हो या न हो तो भी, प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध विषय से सम्बद्ध, वक्ता आदि के वैशिष्ट्य के ज्ञान तथा प्रतिभा आदि से जाग्रत संस्कार विशेष ही व्यंजना है।

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुः व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।

यहाँ उसने उपर्युक्त परिगणित वस्तुओं के अलावा दूसरी कितनी ही वस्तुओं को, जो व्यंग्यार्थ-बोध में सहायक होती हैं, गिनाया है, यथा—बोलने और सुनने वाले की, काकु अर्थात् शोक, भय आदि के कारण आवाज में हुए परिवर्तन की वाक्य की, वाच्य की, किसी अन्य व्यक्ति के उपस्थित होने की, प्रस्ताव अथवा प्रकरण की, काल की, देश की, आदि की विशेषता का ज्ञान व्यंग्यार्थ के बोध में आवश्यक है।

इस प्रकार काव्य में मुख्य अर्थ व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि है। तीन प्रकार की ध्वनियों में भी रसध्वनि मुख्य है, वही काव्य की आत्मा है, और उसे ही प्राप्त करने के लिए विमल प्रतिभा और वैदग्ध्य आवश्यक हैं। यही हमारे देश के प्राचीन आचार्यों का मत है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (मराठी)—ग. त्र्यं. देशपांडे।
२. इण्डियन थियोरीज़ आफ मीनिंग—के. कुंजन्नी राजा।
३. शबरभाष्य—गंगानाथ झा।

———

परिशिष्ट

व्यंजना की स्थापना

मम्मट के आधार पर संक्षेप में इससे सम्बद्ध चर्चा को देखेंगे कि व्यंजना-वृत्ति की स्वीकृति क्यों अनिवार्य है। अगर व्यंजना-वृत्ति का स्वीकार न करें तो यह मानना पड़ेगा कि व्यंग्यार्थ या तो अभिधा या फिर लक्षणा से समझ में आ जाता है, पर इनमें से एक बात भी टिक नहीं सकती। इसे जरा विस्तार से देखें।

व्यंग्य के दो मुख्य प्रकार हैं: १. लक्षणामूला अथवा अविवक्षितवाच्य और २. अभिधामूला अथवा विवक्षितअन्यपरवाच्य। इनमें लक्षणामूला के दो प्रकार हैः १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इन दोनों प्रकारों में लक्षणा का जो प्रयोजन अर्थात् व्यंग्यार्थ होता है वह तत्सम्बन्धी व्यंजना से ही समझ में आता है, अभिधा या लक्षणा से नहीं। अभिधा तो केवल संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है और यह प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ कोई संकेतित अर्थ नहीं है। लक्षणा केवल बाधा दूर कर अर्थात् लक्ष्यार्थ का बोध करा कर ही विराम ले लेती है अतः वह भी प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ का बोध नहीं करा सकती। हम एक उदाहरण लें: 'गंगा में झोपड़ी'। गंगा अर्थात् जल-प्रवाह में तो झोंपड़ा नहीं बाँधा जा सकता। यहाँ बाध है, इसलिए लक्षणा से गंगा का अर्थ गंगातट किया जाता है। 'गंगातट' कहने के स्थान पर 'गंगा' कहने का प्रयोजन शैत्यपावनत्व को सुझाना है। यह प्रयोजन लक्षणा से समझ में नहीं आता। और अब दूसरी बार लक्षणा का आश्रय लिया नहीं जा सकता, क्योंकि अब मुख्यार्थ-बाध आदि हेतु रहा ही नहीं है। साथ ही, गंगातट यह तो लक्ष्यार्थ है, वह मुख्यार्थ नहीं है। उसका बाध भी नहीं होता है। इसके अलावा शैत्यपावनत्वादि जो अर्थ यहाँ लेना चाहते हैं उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। साथ ही, इस प्रयोजन का कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं है और यह भी नहीं है कि मूल शब्द गंगा 'शैत्यपावनत्व' रूप प्रयोजन का बोध न करा सके। मात्र इस नये व्यापार अर्थ के लिए नया व्यापार मानना चाहिए और यह व्यापार व्यंजना-व्यापार है।

यहाँ व्यंजना का आश्रय लेने में कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी अगर किसी प्रयोजन को मान लें तो फिर उसके लिए किसी अन्य प्रयोजन को मानना पड़ेगा और इससे अनवस्था खड़ी हो जायगी जो मूलक्षयकारिणी है।

अगर कोई यह कहता है कि लक्ष्यार्थ 'गंगातट' लेने के स्थान पर 'शैत्यपावनत्व विशिष्ट गंगातट' ही ले लें तो फिर व्यंजना की जरूरत ही नहीं रहेगी। पर, ऐसा करने में आपत्ति यह है कि लक्ष्यार्थ के साथ प्रयोजन को मिला देना उचित नहीं है। कारण, ज्ञान का विषय अलग है और ज्ञान का फल अलग है। यहाँ इस सामान्य नियम का

भंग होता है। इसलिए विशिष्ट लक्षणा भी सम्भव नहीं होती। इस तरह, यह मानना पड़ेगा कि प्रयोजनरूपी व्यंग्यार्थ अभिधा और लक्षणा से भिन्न व्यंजना-व्यापार से समझा जाता है।

अभिधामूला व्यंजना के दो प्रकार हैं: असंलक्ष्यक्रम और २. संलक्ष्यक्रम। इनमें से प्रथम अर्थात् रसादि तो अवाच्य ही हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वह अभिधा से समझ में आ सकता है। और संलक्ष्यक्रम के दो प्रकार हैं: शब्दशक्तिमूल और २. अर्थशक्तिमूल। शब्दशक्तिमूल में तो अभिधा किसी एक अर्थ में नियन्त्रित होती है तब फिर वह जो दूसरा अर्थ समझ में आता है और उससे जो उपमादि अलंकार समझ में आते हैं वे, यह मानना रहा कि व्यंजना से ही समझ में आते हैं।

अर्थशक्तिमूल का विचार करते समय अभिधाविषयक दो मतों को ध्यान में रखना चाहिए: १. अभिहितान्वयवाद और २. अन्विताभिधानवाद। इनमें अभिहितान्वयवाद के अनुसार तो अभिधा मात्र पदार्थ ही दर्शाती है, उसका अन्वय तक नहीं दिखा पाती। अन्वय तक पहुँचने के लिए तो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि नामक तीन वृत्तियों की जरूरत पड़ती है। अन्विताभिधानवाद के अनुसार किसी पदार्थ के साथ ही अन्वित अर्थ अभिधा से समझ में आता है, विशेष पदार्थ के साथ अन्वित अर्थ समझ में नहीं आता। वह तो अवाच्य ही रहता है। तो इन दोनों मतों के अनुसार वाक्यार्थ संकेतित अर्थ नहीं है। अगर अभिधाशक्ति वाक्यार्थ भी नहीं समझा सकती तो वह व्यंग्यार्थ का बोध किस प्रकार करा सकती है?

कुछ यह कहते हैं कि शब्द से वाच्य अथवा व्यंग्य जो कुछ भी अर्थ समझ में आता है उन सभी का निमित्त शब्द ही है अतः व्यंजना नामक किसी नयी वृत्ति की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। यह मानना चाहिए कि यह अर्थ अभिधावृत्ति से ही समझ में आता है। इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि अगर शब्द को व्यंग्यार्थ का निमित्त मान लें तो वह या तो कारक है या ज्ञापक है। कारक तो हो हीं सकता क्योंकि शब्द किसी व्यंग्यार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता, मात्र प्रकट करता है। साथ ही, शब्द को व्यंग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त भी नहीं कहा जा सकता। कारण, व्यंग्यार्थ पहले से ही सिद्ध नहीं होता। धुँआ अग्नि का ज्ञापक निमित्त हो सकता है, क्योंकि इन दोनों के बीच नियत सम्बन्ध है। व्यंग्यार्थ और शब्द के बीच इस तरह का सम्बन्ध नहीं होता।

कुछ यह कहते हैं कि जिस प्रकार किसी बलवान बाणावली के द्वारा छोड़ा गया बाण वेग नामक एक ही व्यापार के बल पर शत्रु के कवच को बेध डालता है, मर्म को भेद देता है और उसके प्राण भी हर लेता है उसी प्रकार शब्द भी अभिधाशक्ति से ही अपना संकेतित अर्थ प्रकट करता है, उसका अन्वय भी दर्शा देता है और व्यंग्यार्थ का भी बोध करा देता है। अतः शब्द से जो कुछ अर्थ समझ में आये उसे मुख्यार्थ ही

मानना चाहिए। साथ ही, शब्द का जो भी तात्पर्य है वह सम्बद्ध शब्द का ही अर्थ माना जाय।

इसके उत्तर में यह निवेदन करना है कि ये लोग तात्पर्य का अर्थ ही नहीं समझते। पहले जो कहा जा चुका है उसके अलावा जो नया कहना है वह तात्पर्य है और वह शब्दों से सीधे ही समझ में आ जाता है। शब्द से किसी भी प्रकार जो कुछ प्रतीत होता है वह सभी उसका तात्पर्य नहीं कहलाया जा सकता। जिस प्रकार रास्ते पर चलते हुए जुलाहे से कहें कि 'किनारे वाली धोती बुनना।' अगर हम जुलाहे से इस विषय में पहली ही बार बात कर रहे हैं तो इस वाक्य का तात्पर्य त्रिविध है : एक तो हम उसे बुनने के लिए कहते हैं, बुनी जाने वाली वस्तु धोती है, यह कहते हैं और यह भी कहते हैं कि वह किनारे वाली है। अगर हमने उससे पहले कह रखा है कि हमें सूत बुनवाना है तो यह वाक्य दो ही वस्तुएँ नयी कहता है : बुनी जाने वाली वस्तु धोती है और वह किनारे वाली है। अगर हमने उससे पहले कह रखा है कि हमें एक धोती बुनवानी है तो यह वाक्य इतना ही नया कहता है कि किनारे वाली धोती बुननी है। इस प्रकार प्रसंगानुकूल इस वाक्य का तात्पर्य तीन, दो और एक वस्तु में भी हो सकता है। शब्द से, मनचाहे रूप में जो भी समझ में आये वह तात्पर्य नहीं कहलायेगा। अगर इस रूप में मान लें तो 'आगे वाला दौड़ता है' का अर्थ 'पिछले वाला भी दौड़ता है' किया जा सकता है, क्योंकि 'आगे वाला' कहने में 'पिछले वाला' संकेतित रहता ही है।

अगर यह मान लें कि शब्द सुनने के बाद जो कुछ अर्थ प्राप्त होता है वह सभी अभिधा से ही प्राप्त होता है तो 'ब्राह्मण तेरे यहाँ पुत्र जन्मा है' अथवा 'तेरी कुँवारी लड़की गर्भवती हुई है' आदि से उत्पन्न हर्षशोकादि को भी वाच्य ही कहना पड़ेगा। फिर तो लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा मानने की भी क्या जरूरत है ?

अगर हम व्यंजना को स्वीकार न करें तो फिर दोषों के नित्य और अनित्य नामक भेद करने की क्या जरूरत है ? हम शृंगार में श्रुतिकटुत्व को दोष मानते हैं पर रौद्र में नहीं। इसका कारण यही है कि वर्णों की भी व्यंजकता होती है। इसी प्रकार सभी समानार्थी शब्द भी सभी स्थलों पर काम नहीं कर सकते। कारण, समानार्थी होते हुए भी सभी की व्यंजना समान नहीं होती। यथा—'कपाली' और 'पिनाकी' शब्द समानार्थी होने पर भी—शिववाचक होने पर भी कालिदास की 'समागमप्रार्थनया कपालिनः' नामक पंक्ति में 'कपाली' शब्द ही अधिक उचित लगता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिधा और व्यंजना एक नहीं हैं। किसी भी शब्द का वाच्यार्थ सभी के लिए एक ही होता है, पर व्यंग्यार्थ का अलग-अलग होना सम्भव है। यथा—'सूर्य अस्त हुआ।' इस शब्द का वाच्यार्थ सभी के लिए एक होने पर भी इसका व्यंग्यार्थ सभी अलग-अलग लेंगे।

निम्नलिखित मुद्दों से यह स्पष्ट हो जायगा कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न हैं :

१. वाच्यार्थ के निषेधरूप होने पर भी व्यंग्यार्थ विधिरूप हो सकता है अथवा इसके विपरीत भी सम्भव है; इस प्रकार दोनों का स्वरूप भिन्न है। २. वाच्यार्थ पहले समझ में आता है और व्यंग्यार्थ बाद में, इस प्रकार दोनों के बीच काल का भी भेद है। ३. वाच्यार्थ शब्द से समझ में आता है जबकि व्यंग्यार्थ शब्द के अतिरिक्त शब्दांश, अर्थ, वर्ण, रचना तथा अभिनय से भी समझ में आता है। इस प्रकार दोनों के आश्रय भी भिन्न हैं। ४. वाच्यार्थ समझने में व्याकरण, कोश आदि उपयोगी सिद्ध होते हैं जबकि व्यंग्यार्थ के लिए वक्ता, बोद्धा, प्रकरण आदि की विशेषता का ज्ञान उपयोगी होता है; इस तरह दोनों के निमित्त भी भिन्न हैं। ५. वाच्यार्थ केवल अर्थ-प्रतीति कराता है जबकि व्यंग्यार्थ चमत्कार पैदा करता है; इस प्रकार दोनों के कार्य अथवा फल भी भिन्न हैं। ६. वाच्यार्थ एक ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं; इस प्रकार दोनों की संख्या भी भिन्न है। ७. वाच्यार्थ एक ही व्यक्ति को उद्देश्य में रख कहा गया होता है जबकि व्यंग्यार्थ में दूसरे व्यक्ति के प्रति भी हो सकता है, इस तरह दोनों के विषय भी भिन्न हैं।

गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा कथित नहीं होता, इसी प्रकार वह तात्पर्य से भी समझ में नहीं आता अतः वहाँ भी व्यंजना को माने बिना काम नहीं चलता।

यह सिद्ध करने के पश्चात् कि अभिधा से व्यंग्यार्थ समझ में नहीं आता और अभिहित अर्थ से व्यंग्यार्थ भिन्न है, अब हम यह सिद्ध करेंगे कि वह लक्ष्यार्थ से भी भिन्न है।

अगर कोई यों कहता है कि १. लक्ष्यार्थ भी अनेक हो सकते हैं, २. उसके भी अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य नामक अलग नाम हो सकते हैं, ३. लक्ष्यार्थ के बोध में भी शब्द और अर्थ दोनों पर आधार रखना पड़ता है; चूँकि लक्ष्यार्थ शब्द से समझ में आता है अतः उसका आधार शब्द पर है, और चूँकि लक्षणा के लिए मुख्यार्थ-बाध आवश्यक है अतः उसके ज्ञान को लेकर उसे अर्थ पर भी आधार रखना पड़ता है। तथा ४. प्रकरण, वक्ता, बोद्धा आदि के ज्ञान की भी तात्पर्य-बाध समझने के लिए लक्ष्यार्थ को अपेक्षा रहती है। इन सभी बातों में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ समान हैं अतः यह नया व्यंजना-व्यापार मानने की क्या जरूरत है?

इसका उत्तर है कि १. यह सही है कि लक्ष्यार्थ अनेक हो सकते हैं। पर एक वाक्य में तो एक ही लक्ष्यार्थ लागू होता है, पर व्यंग्यार्थ एक ही वाक्य में अनेक हो सकते हैं। २. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ किसी न किसी सामीप्य आदि का नियत सम्बन्ध होना आवश्यक है जबकि व्यंग्यार्थ के लिए यह आवश्यक नहीं है। उसके लिए नियत, अनियत अथवा सम्बद्ध किसी प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। ३. लक्ष्यार्थ के लिए मुख्यार्थ-बाध जरूरी है जबकि व्यंजना के लिए नहीं। ४. प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन बोध के लिए व्यंजना आवश्यक है। ५. अभिधा और लक्षणा दोनों का आधार समय अर्थात् संकेत पर है। अभिधा संकेतित अर्थ ही बताती है और लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध

आदि तीन समयों की जरूरत होती है। इस प्रकार लक्षणा अभिधा की पूँछ है। चूँकि व्यंजना अभिधा से भिन्न है, इसलिए वह लक्षणा से भी भिन्न है। ६. कई बार लक्षणा के बाद व्यंजना आती है, अतः ये दोनों एक नहीं हो सकतीं। ७. व्यंजना सदा लक्षणा के बाद ही आती है, यह बात भी नहीं है। वह कई बार अभिधा का अवलम्बन लेकर भी प्रकट हो जाती है। ८. यह बात भी नहीं है कि व्यंजना अभिधा और लक्षणा पर ही आधार रखती हो, क्योंकि वह कभी-कभी अवाचक वर्ण का अनुसरण करके भी प्रकट हो जाती है। ९. यह भी नहीं है कि वह शब्द का ही अनुसरण करती हो। कई बार वह अशब्दरूप नेत्रकटाक्षादि से भी प्रकट हो जाती है।

उक्त सभी से स्पष्ट हो जाता है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य से व्यंजना-व्यापार अलग ही है। इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसके बाद वह वेदान्तियों और नैयायिकों को उत्तर देता है। वेदान्ती यह मानते हैं कि वाक्य का अर्थ सम्पूर्ण वाक्य से ही निकलता है, अलग-अलग पदों से नहीं। अतः सम्पूर्ण वाक्य ही वाचक है, और वाक्यार्थ में व्यंग्यार्थ भी समा जाता है। इसलिए व्यंजनावृत्ति स्वीकार करने की जरूरत ही नहीं है। इसका उत्तर है कि वेदान्तियों को भी व्यवहार में तो पद और पदार्थ का भेद करना ही पड़ता है, अतः व्यंजनावृत्ति स्वीकार किये बिना उनकी भी मुक्ति नहीं।

नैयायिक यह मानते हैं कि व्यंग्यार्थ अनुमान से प्राप्त होता है। उसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुमान के लिए जो शर्तें हैं वे सब व्यंजना में पूरी नहीं होतीं, अतः व्यंजना को अनुमान से नहीं समझाया जा सकता। हम यह एक उदाहरण से समझ लें :

घूमो बाबाजी आराम से श्वान को आज मार दिया—
सिंह ने, गोदावरी के तीर पर झाड़ी में रहता था जो।

किसी कुलटा के एकान्त मिलन में फूल तोड़ने आये बाबाजी विक्षेप बन गये होंगे। उन्हें सम्बोधित कर यह कहा गया है। नैयायिकों का यह कहना है कि जो आदमी कुत्ते से डरता है, वह यह जान कर कि सिंह इधर आया है, इधर फटकेगा ही नहीं; यह अनुमान करना स्वाभाविक है। भीरु जहाँ भय के कारण का अभाव होता है, वहीं घूमता है; यहाँ भय के कारण का अभाव नहीं है, यह जानने के बाद वह वहाँ नहीं जायगा। यह सामान्य अनुमान है। इसका उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है कि भीरु हो तो भी गुरु या प्रभु की आज्ञा से अथवा पत्नी के प्रेम के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी कारणवश भय का कारण होने पर यहाँ जा सकता है। साथ ही अगर कोई कुत्ते से टकराने अथवा किसी अन्य कारण से भयभीत हो तो यह भी तो हो सकता है कि वह सिंह से न भी डरता हो। (लोग कहते हैं कि नेपोलियन चूहे से डरता था।) साथ ही, सिंह के आने की बात प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध नहीं होती; केवल एक कुलटा के वचनों से मान लेनी पड़ती है। इस प्रकार, इस

उदाहरण से 'आराम से घूमो' से 'देखो, इधर आये तो।' का जो व्यंग्यार्थ समझ में आता है, वह अनुमान नहीं हो सकता। कारण, यहाँ अनुमान की शर्तें पूरी नहीं होतीं।

इस तरह हमने देखा कि अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा या अनुमान—इनमें से एक भी व्यंग्यार्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं है, अतः इसके बोध के लिए व्यंजना के व्यापार को माने बिना काम नहीं चल सकता।

———

पद्य-सूची

———

नामानुक्रमणिका